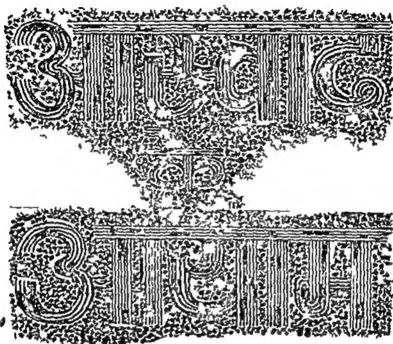
आस्वाद के आयाम



जगतराम एण्ड सन्ज



डॉ. रणवीर रांग्रा

लेखक

प्रकाशक
जगतराम एण्ड सन्स
IX/221, मेन रोड गांधीनगर
दिल्ली-110031

प्रथम संस्करण
1989

मूल्य
पचास रुपये

मुद्रक
चोपड़ा प्रिंटर्स मोहन पार्क
नवीन शाहदरा, दिल्ली 110032

AASVAD KE AAYAM
by Dr Ranvir Rangra
Price Rs 50 00

दिवाकर बेटे
की
स्मृति को

सदर्भिका

रचना प्रक्रिया के दौरान रचनाकार का तो मानस मन्थन होता ही है, पर रचना को पढते समय पाठक भी भीतर ही भीतर कम नही मथा जाता। रचना के माध्यम से जो पाठक तक पहुँचना चाहता है और उसके भीतर जो पहले से ही विद्यमान होता है, उन दोनो का सगम सहज नही हो जाता। काफी सघर्ष के बाद खूब गुत्थमगुत्था होने के बाद ही, ये समरस हो पाते हैं। रचना म से जो पाठक की ओर आता है उसे पाने और पचाने म, समझने और सभालने म कई बार तो पाठक के समूचे व्यक्तित्व को जूझ जाना पडता है। फिर भी, दोनो मे मेल बैठ ही जाए, यह जरूरी नही।

समझने और सभालने की यह प्रक्रिया रचना को पढ कर अलग कर देने पर समाप्त नही हो जाती, बल्कि पाठक के चेतन-अवचेतन मे वर्षों चलती रह सकती है। कोई रचना जितनी अधिक गहरी होती है, जितनी अधिक सशक्त होती है, उतनी ही अधिक देर तक वह पाठक के भीतर घर किए रहती है, उसके मन और मस्तिष्क म फँसी-बसी रहती है। किसी भी समर्थ कृति की परिणति पुस्तक के पन्नो मे नही, पाठक की अपनी कल्पना मे होती है। पाठक के मनोजगत म ही वह पूर्णता प्राप्त करती है तथा नाना रग रूप धारण करती हुई उसके जीवनानुभवो के साथ विभिन्न मोड लेती रहती है। पाठक की अपनी गति प्रगति के साथ, उसकी समझ-बूझ के विकास के साथ, विकसित होती हुई वह अपने असख्य आयाम खोलती जाती है।

रचना ही पाठक को प्रभावित नही करती, पाठक भी उसे प्रभावित करता है। कह सकते हैं कि रचनाकार ही सर्जक नही होता पाठक भी सर्जक होता है और आस्वाद के विभिन्न धरातलो पर उसे ग्रहण करते-करते वह सह-सर्जक के रूप मे उसे अपने रग म भी रगता जाता है। जो रचना जितनी अधिक गहरी व्यजना लिए रहती है, उतने ही अधिक रूपो मे वह अपने पाठको तक पहुँचती है और हर पाठक पर अपना और अपने रचयिता का नया रूप खोलती है।

इसी मूल मनन-मन्थन के आसपास मँडराने वाले मेरे कुछ पूर्वप्रकाशित लेख यहाँ संकलित हैं और इसी धारणा को पुष्ट करने वाली कुछ समीक्षाएँ भी। इसमें मेरा प्रयास बस यही रहा है कि रचना और रचनाकारों के प्रति अपने को खुला छोड़ दूँ तथा मेरी ओर जो आ रहा है उसे ग्रहण करते समय मेरी जो सहज प्रतिक्रिया रही है, उसे निश्छलता से व्यक्त करता रहूँ, और इसी बहाने अपने को टटोलता चलूँ।

नई दिल्ली
5 मई, 1989

—रणबीर रांग्रा

अनुक्रम

लेखन किस लिए, किसके लिए

लेखक अपनी रचना के माध्यम से कुछ देता है और पाठक उसे पाता है, यह स्थापना पाठकों में से तो लगभग सभी को मान्य होगी, पर सभी लेखक यह मानने को तैयार नहीं कि रचना उनकी बात दूसरों तक पहुँचाने का माध्यम मात्र है। आज भी ऐसे लेखकों की कमी नहीं, जो साहित्य को साधन न मानकर अपने-आप में साध्य मानते हैं। उनका कहना है कि लिखना उनकी मजबूरी है, लिखे बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता। लिखने से उन्हें जो सन्तुष्टि मिलती है, वही उनका चरम प्राप्य है, इसलिए उनका लिखना उनके अपने लिए है। अपने अतिरिक्त वह किसी दूसरे के लिए भी हो सके, यह बात उनके गले नहीं उतरती।

हो सकता है कि लेखकों के इस कथन के पीछे आलोचना से बचने की भावना काम कर रही हो। पर क्या मानना होगा कि लिखते समय सभी लेखकों के सामने पाठक रहता है और साहित्य सृजन में उनका सारा आयास अपनी बात उस तक पहुँचाने के लिए ही होता है? क्या यह नहीं हो सकता कि लिखते समय लेखक अपने भाव जगत में इतना रम जाता हो, कल्पना-चक्षुओं के आगे नाच रहे भाव चित्रों में इतना खो जाता हो और अनुभूति बिम्बों को शब्दों की भाषा में परिणत करने में उसे इतना संघर्ष करना पड़ता हो कि वह यह सोच ही न सके कि उसका लिखना उसके अतिरिक्त किसी दूसरे के लिए भी हो सकता है? ऐसा लेखक जब यह कहता है कि वह 'स्वांतः सुखाय' लिखता है, तो वह बनता ही हो, यह जरूरी नहीं।

माना कि साहित्य को सम्प्रेषण का माध्यम मानने से लेखकों के इन्कार करने में कोई बनावट नहीं। पर क्या इसी से यह स्वीकार कर लेना होगा कि उनका लिखना अपने अतिरिक्त किसी दूसरे के लिए है ही नहीं? कलाकारों में एक साहित्यकार ही ऐसा है जो अपनी अनुभूति को शब्दों की भाषा में ढालता है, अपने कल्पना बिम्बों को शब्द चित्रों में उपस्थित करता है, जबकि चित्रकार शब्दों की बजाय टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं से काम लेता है और संगीतकार स्वर लहरी में। भाषा की उत्पत्ति के विषय में चाहे मतभेद हो, इसमें दो मत नहीं हो सकते कि

उसका चरम लक्ष्य सम्प्रेषण है। इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता कि अपनी बात दूसरों तक पहुँचाने की उत्कट इच्छा ने ही भाषा को जन्म दिया है। साहित्य सृजन के क्षणों में स्मृति पट पर उभरते चले आने वाले समस्त चित्रों तथा भाव बिम्बों को रेखा प्रतिरेखा शब्द-चित्रों में ढालने के लिए लेखक जो अनथक परिश्रम करता है, उसकी तह में सम्प्रेषणीयता के सिवा और कौन सा भाव हो सकता है? शब्दों में ढालने से पहले लेखक के कल्पनाचक्षुओं के सामने जो चित्र उभर आते हैं, यदि वे ही उसकी पूर्ण तुष्टि कर सकते होते, तो अभिव्यक्ति के लिए, और वह भी शाब्दिक अभिव्यक्ति के लिए उसके इस घोर परिश्रम की क्या आवश्यकता थी? काव्यात्मक अनुभूति से ही लेखक की संतुष्टि नहीं हो जाती है। उससे तो बल्कि उसकी बेचैनी शुरू होती है। धीरे धीरे उस बेचैनी को निकाल कर रचना प्रक्रिया के पूरे आनन्द को पाने के लिए उसे अनुभूति से आगे बढ़कर अभिव्यक्ति तक पहुँचना होता है। लिखते समय या मन में भावों का भाषानुवाद करते समय किसी भी लेखक का पाँच वाक्य लिखकर तीन काट देना और शेष दो के भी शब्दों में हेर फेर करना, भावानुकूल भाषा और भाषानुकूल विन्यास ढूंढने में उसका रात रात भर जागकर बिता देना—यह सब अपनी रचना में सम्प्रेषणीयता लाने के लिए नहीं, तो और किसलिए है? उसके ऐसा करने से क्या यह नहीं प्रकट होता कि लेखक के भीतर भी एक पाठक रहता है जो पाठक ही नहीं आलोचक भी होता है। वह उसकी रचना के एक एक शब्द को तोलकर कहता रहता है नहीं, बात अभी पूरी तरह समझ में नहीं आयी, इसमें और सम्प्रेषणीयता लानी होगी।"

देखा गया है कि जिस कृति को रचकर लेखक को सृजन का सर्वाधिक सुख मिलता है उसे वह अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति मानता है और जिसे वह अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति मानता है, उसकी सम्प्रेषणीयता सर्वोत्तम होती है। सम्प्रेषणीयता अभिव्यक्ति का ही दूसरा नाम है और अभिव्यक्ति में किसी दूसरे का भाव गर्भित है ही। सृष्टि साहित्यिक हो या किसी अन्य प्रकार की, अद्वैत में से नहीं, द्वैत में ही सम्भव है। अद्वैत की भाषा तो मौन है। वहाँ सम्प्रेषण का प्रश्न ही नहीं उठता। गीता के 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' में तो किसी दूसरे की अपेक्षा ही नहीं रहती। अपनी अनुभूति को अभिव्यक्ति में ढालकर साहित्यकार मुक्तपुरुष हो जाता है, व्यक्ति की सीमा लाँघकर समष्टि में फैल जाता है। इसलिए कहना न होगा कि साहित्यकार जाने या न जाने, माने अथवा न माने, उसका लिखना उसके अपने लिए ही नहीं, दूसरों के लिए भी होता है। यहीं से उसके दायित्व की बात उठती है।

कला कला के लिए है या कलाकार के लिए अथवा जीवन और जगत के लिए, युग-युगान्तर से यह विवाद का विषय रहा है और रहेगा। मुझे तो ये तीनों

दृष्टिकोण एक ही जगह पहुँचते दीखते हैं, इनमे कही कोई विरोध नही दीखता। विरोध तभी उपजता है, जब इनसे से प्रत्येक अपने को पूण और अन्तिम मान बैठता है। क्या ऐसा नही हो सकता—श्रेष्ठ रचनाओ के साथ तो ऐसा होता ही है—कि कोई रचना जब वह रची जा रही हो, तब रचनाकार के आत्मबोध और परम सतोष का निमित्त बनी हो, उसके समापन पर साहित्य समृद्ध हुआ हो और प्रकाश मे आने पर उसने जीवन और जगत को नयी दिशा दी दो। साहित्य की प्रत्येक श्रेष्ठ कृति अपने म इन तीनो गुणो को समाहित किए रहती है।

साहित्यकार का जीवन साधना का जीवन है। दीये की भाँति स्वय जलकर भी वह दूसरो को प्रकाश देता है, जीवन भर व्यथा मे तपकर वह जो पाता है उसे कचन सा निखार कर जगती म लुटा देता है। जीवन और जगत के समस्त विप को वह अपनी साधना के बल से अमत कर लेता है। इसीलिए तो गीताकार ने साहित्य साधना को 'वाड मय तप' कहकर उसे आत्मदशन का निमित्त माना है। साहित्य रोटी कमाने का साधन भी हो सकता है, यह उसके लिए अचिन्त्य ही रहा। साहित्यिक कृति साहित्यकार की सृष्टि होती है और वह होता है उसका स्रष्टा। पर कृति और कृतिकार म सष्टि और स्रष्टा का ही नाता है? क्या ऐसा नही हो सकता कि कृति को रचने के प्रयत्न मे कृतिकार स्वय भी रचा जा रहा हो? जिस कृति को रचता रचता साहित्यकार अपने बाहर से कटकर भीतर से जुड जाता है, उसके भीतर का सोया मानव जाग उठता है और वह दूसरो मे अपने को खोने और अपन म दूसरो को पाने के लिए मचल उठता है, उस कृति ने कृतिकार को थोडा भी न रचा हो, यह कसे हो सकता है?

रचना प्रक्रिया की भट्टी मे पडते ही लेखक के जीवन-दशन पर, उसकी मान्यताओ और विश्वासो पर चढा कत्रिमता का मुलम्मा उतरने लगता है, धीरे धीरे उसका वास्तविक रूप निखरने लगता है और वह अपनी आत्मा को पहचानने लगता है। रचना करते समय उसके सामने आपबीती और जगबीती का, अतीत की सफलताओ और विफलताओ का, सवेदनाओ और प्रेरणाओ का एक नया ही अथ खुलता है और वह पहले लगाए गए उस अथ स कोसो दूर होता है जो तब उसके जीवन-दशन का आधार बना था। रचना करते समय लेखक अलौकिक पुरुष बन जाता है। उस समय वह सामान्य धरातल से इतना ऊँचा उठ जाता है कि धम के पाप-पुण्य, शासन के भय प्रलोभन और समाज के विधि निषेध उसके लिए ढीले पड जाते है। शिक्षा और सस्कारो की लौह शृखलाएँ भी टूटती जाती हैं। तब उसकी चेतना म बाहर और भीतर के यथार्थो के नये-नये रूप उभरते आते हैं और वह उनम स तुलन बठाता हुआ सत्य के निकट पहुँचता जाता है। रचना उसके लिए आत्मदर्शन का साधन बन जाती है और यह आत्मबोध उसकी अनुभूति और सवेदना मे रूपान्तर ला देता है, जीवन और जगत के प्रति बन चुके

उसके दृष्टिकोण में क्रान्ति की चिनगारी लगा देता है।

रचना प्रक्रिया में साहित्यकार की अपराजित आत्मा को खुलकर खेलने का अवसर मिलता है। इसीलिए तो कृति को पूरा कर लेने के पश्चात् कृतिकार वही नहीं रहता, जो वह उसे आरम्भ करने से पहले था। यदि वैसा ही रहता है, उसमें थोड़ा भी रूपान्तर घटित नहीं होता, तो यह विचारणीय हो जाता है कि रचना-प्रक्रिया में वह सत्यनिष्ठ साहित्यकार अपने को जीवन और जगत के प्रति खुला छोड़कर जीता है और रचना करते समय अपने को भीतर के प्रति बन्द नहीं होने देता; बल्कि अधिकाधिक खोलता जाता है। ऐसा साहित्यकार जो जीवन में पाता है, उसे रचना में ढाल देता है और जो रचना प्रक्रिया में पाता है, उसे जीवन और जगत में लुटा देता है। यह क्रम उसके जीवन को गतिमान और उसकी रचनाओं को जीवंत बनाए रखता है, उनमें मतवाद की कट्टरता और पूर्वाग्रह की जड़ता नहीं आने देता और जीवन तथा रचना प्रक्रिया उसके लिए अनन्त प्रयोग बन जाते हैं—रचना प्रक्रिया शायद जीवन से भी अधिक।

आवश्यकता तो इस बात की है कि साहित्यकार सत्यनिष्ठ हो, यानी अपने प्रति सच्चा रहे। अपनी रचना के माध्यम से वह वही दे, जो स्वानुभूत हो जो उसका अपना हो, जो उसकी आत्मा की पुकार हो। बृहदारण्योपनिषद के 'अयमात्मा वाङ्मय" के अनुसार यही सच्चा साहित्य है। 'उत्तररामचरितम' के आरम्भ में 'अमृतामात्मन कलाम' कहकर भवभूति ने भी इसी सत्य को स्वीकारा है।

साहित्यकार अपने प्रति सच्चा हो, इतना ही पर्याप्त नहीं। उसे जीवन के प्रति भी सच्चा रहना होगा। जीवन के प्रति सच्चा होने का अर्थ है मुक्त भाव से जीना। जीवन कतराने का नाम नहीं, जीने का नाम है और जीना भी ऐसा, जो मुक्त भाव से हो—अपने को सभी बाहरी और भीतरी चोटों के लिए खुला छोड़कर। आज जो अधिकांश साहित्यकारों की अनुभूति का दिवाला निकल गया दीखता है उनके पास देने को कुछ रहा ही नहीं है, उसका मुख्य कारण यही है कि आज वे जीवन से कतरा कर चलने लगे हैं। अनुभूति के मार्ग में आज सबसे बड़ी अड़चन यह है कि इस युग में जीवन जीने का विषय नहीं रहा। जीने की बजाय अब वह समझने और समझाने का विषय बन गया है क्योंकि जीवन को जीने और झेलने की बजाय, उसे समझने और समझाने का प्रयास बहुत आसान दीखता है।

आज का सुविधावादी मानव भवसागर में निःशंक कूदकर अनुभूति रत्नों को निकाल लाने की बात नहीं सोच सकता क्योंकि उसमें बड़ा जोखिम है; जान तक से हाथ धोना पड़ सकता है। उसमें अस्तित्व तक के मिट जाने का डर है। आज का मानव तो निरापद रास्ता अपनाने का आदी है। वह बुद्धि के बेड़े में आराम

से बैठ कर काल्पनिक अनुभूति की डोर से इस भवसागर की गहराई नाप लेना चाहता है। सागर की उत्ताल तरगें बेडे से टकरा कर इधर उधर बिखर जाती हैं, उसे छू तक नहीं पाती। कभी-कभी उठती गिरती लहरो की जो बौछार उसे भिगो जाती है, उसे ही वह अपनी अनुभूति मान लेता है। इस प्रवृत्ति से आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे बनावट आ गयी है। भला साहित्य ही कैसे अछूता रह पाता ? साहित्य मे भी खालिस अनुभूति का ह्रास होने लगा। उसमे बौद्धिकता की मिलावट उत्तरोत्तर बढती गयी और अब स्थिति यहा तक पहुँच गयी है कि बौद्धिकता को ही अनुभूति के रूप मे पेश किया और माना जाने लगा है। आज बौद्धिक अनुभूति ही सच्ची अनुभूति बन बैठी है।

हमारे यहा के साहित्यकारो के भारतीय परम्परा और सस्कृति से कटकर विदेशी साहित्य के अधानुकरण की बात जब भी उठती है, मुझे उसका मूल कारण यही दिखाई देता है कि साहित्य आजकल बहुधा लेखक के चेतन की ही उपज हो गया है। वह साहित्यकार के भीतर की असल गहराइया से नहीं निकलता, बल्कि आरोपित ज्ञान की उस ऊपरी सतह से ही बन आता है, जो उसके व्यक्तित्व पर काई के समान जम कर उसके भीतर की लहराती हुई तरल मानसिकता को उसके लिए अप्राप्य बना देती है। रचना प्रक्रिया मे साहित्यकार यदि अपनी भीतरी गहराइयो मे नही उतरता तो बहुत सम्भव है कि रचना मे उसका अपना बहुत कम आ पाए, और उसमे उन सब सामयिक प्रभावो की मिलावट प्रचुर मात्रा मे हो, जो कुछ ही समय पहले उसने ग्रहण किए हो और अभी तक उसके व्यक्तित्व में खप नही पाए हो। ऐसी स्थिति मे यह भी हो सकता है कि वह दूसरो की अनुभूतियो पर, उनके विचारो और विश्वासो पर अपना लेबल लगाकर प्रस्तुत कर दे। यह जरूरी नहीं कि वह यह सब जानबूझकर ही कर रहा हो। होता यह है कि उसकी मानसिकता पर शिक्षा-दीक्षा, पठन-पाठन, मनन चिन्तन आदि के आरोपित ज्ञान की काई की इतनी मोटी तह जम जाती है कि वह उसी मे उलझकर रह जाता है उसे बेंध कर अपने भीतर ठाठें मार रहे उस अथाह पारावार तक नही पहुँच पाता, जो सौ फीसदी उसका अपना है, जिसकी प्रत्येक बूद मे उसका समूचा व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित है।

दार्शनिक की तरह साहित्यकार भी जब बुद्धि की डोर पकड, गहराई मे उतरने लगता है तो सब कुछ के आगे प्रश्नचिह्न लगाता लगातार ऐसी स्थिति मे पहुँच जाता है, जहाँ किसी मे भी उसकी आस्था नही रहती और वह नास्तिक-तुल्य हो जाता है। यदि वह उस स्थिति को अतिम स्थिति मानकर वही रुक जाए और वहीं से अपने निष्कर्ष बाँटने लगे, यानी उस स्थिति से जिसमे उसने पाया कुछ नही खोया ही खोया है, तो वह जो भी देगा वह नकारात्मक होगा। उस नकारात्मक की प्रतिक्रिया भी नकारात्मक होगी जो अनेक वाद विवादो को

जन्म देगी। उसस हजारा बखेडे खडे होगे। पर यदि वह उस नकारात्मक स्थिति मे न उलझा रहकर और गहरे उतर जाता है, तो एक-एक करके सभी प्रश्नो का उत्तर मिलता जाता है, धीरे धीरे उसकी जिज्ञासाएँ शान्त होती जाती है और उसके सामने बाहरी और भीतरी यथार्थताओ के जो नये अर्थ खुलते हैं, उनसे उसकी सारी अनास्था पिघलकर आस्था मे बदल जाती है। आस्था की इस स्थिति म वह जो देता है वह पाठक पर चाबुक की तरह नही पडता, बल्कि उसके आहत अह पर मरहम का काम करता है, उसकी पराजित आत्मा को बल देकर उसे जीवन को जीने और झेलने के लिए तैयार करता है। ऐसे साहित्य को पढने से लगता है, मानो उसके माध्यम से एक आत्मा दूसरी आत्मा के सम्पर्क म आ रही हो।

लाख चेष्टा करने पर भी साहित्यकार आज जो अपने भीतर गहरा नही उतर पा रहा है, उसका मुख्य कारण है—साहित्य सृजन का व्यवसाय बन जाना। लेखन-व्यवसाय के बढते हुए प्रभाव तथा माग और उत्पादन के चक्कर ने साहित्यकार स 'स्वान्त सुखाय' की सुविधा भी छीन ली है। आज के आर्थिक युग मे यह जानना बडा रोचक होगा कि किसी साहित्यकार को अधिक सुख अपनी रचना के सृजन से मिला था या उसके पारिश्रमिक से खरीदी रगीनिया स। आर्थिक मूल्यो ने आज साहित्यकार की आस्था को हिला दिया है, उसके आत्म विश्वास को झकझोड दिया है। धन के पिशाच ने उसकी आत्मा को जकड लिया है।

आज के लेखक को धन के पिशाच से मुक्ति पानी है और अपने प्रति उन्मुक्त होना है बाहर से सिमट कर भीतर के प्रति भी खुलना है। सजीवनी की सच्ची खोज कोलम्बस की ही नही यूलिसिस की यात्रा के समान भी है यानी वह बाहर ही नही, अपने भीतर भी होती है। मनुष्य जब जन्म लेता है तो वह अपने से बाहर होता है। जीने का अर्थ है अपने को पाना और अपने को पाने का अर्थ है, सही माना मे जीना। जो अपने को पाए बिना दूसरो को देने का—जीवन म या साहित्य म—ढोग रचता है वह दूसरो को तो क्या अपने को ही धोखा देता है। लेखक का सबसे पहला और सबसे बडा दायित्व अपने प्रति है। जो अपने प्रति ही दायित्व नहीं समझता, उससे दूसरो को निराशा के सिवा और क्या मिल सकता है?

●

मौलिकता का मूल मन्त्र

मौलिक लेखन के लिए सीखना कुछ भी नहीं होता, पहले के सीखे को केवल अनसीखा करना होता है। मौलिक लेखक बनने के लिए जानना कुछ भी नहीं होता, पहले की सारी जानकारी को भूलना भर होता है।

आज के लेखकों का मन उन पुरानी धूलभरी पाडुलिपियों की तरह है, जिन पर धर्मगुरुओं ने इधर उधर का बहुत कुछ लिखा हुआ है। उनमें निहित सही अर्थ को पाना हो, तो उनके ऊपर-नीचे की उल्टी-सीधी लिखावट को और उस सब कुछ को खुरच डालना होगा, जिसने उसे ढँक रखा है। मानव-मन ऐसे विचारों को लेकर आता है, जो सुंदर ही नहीं, नये और मौलिक भी होते हैं। प्रत्येक मनुष्य के मन में संसार की नये सिरे से और अपने ही ढंग से सृष्टि होती है, पर अनुभूति और शिक्षा उस पर व्यर्थ का कूड़ा-करकट जमा करके उसे पूरी तरह ढँक देती है।

जिस आदमी ने सेब कभी नहीं खाया, सदा सेब की चटनी ही देखी है और वही खायी है, वह सेब की सुंदरता को क्या जाने? जिसने गुलाब का इत्र ही सूँघा है, फूल कभी नहीं देखा, वह फूल की मनमोहकता को भला कभी समझेगा? विज्ञान की कृपा से हमें जो कुछ मिलता है, वह भी ऐसा ही होता है, यानी अपने असली रूप से कोसों दूर। विज्ञान से ही क्या? वह सब जो हम सीधे इंद्रियों की अपेक्षा मन के माध्यम से ग्रहण करते हैं, वह भी विकृत रूप में ही मिलता है। वह हमारे सामने रूप बदलकर बना-बनाया ही आता है। उसे यथार्थ रूप में हम देख ही नहीं पाते।

चिंतन मनन ऐसी रसोई है जहाँ सब सत्यों को तोड़-मरोड़कर, काट-पीटकर उनमें अपने स्वाद के अनुसार मसाला भरकर तल लिया जाता है। यही बात उन पुस्तकों के विषय में भी कही जा सकती है, जो दार्शनिक होती हैं। ऐसी पुस्तकों की कमी नहीं। किन्तु आज हमें जरूरत अदार्शनिक पुस्तकों की है—ऐसी पुस्तकों की, जिनमें तत्त्व अधिक हो और विचार कम, जो जीवन और जगत का उघार कर रख दें, न कि उसे अपने रंग में रंग कर प्रस्तुत करें।

नये और मौलिक विचार एकांत में आते हैं, पर एकांत कहाँ से और कैसे आए ? आप लोगों की भीड़ भाड़ से दूर भाग सकते हैं, पर तब आप अपने को पुस्तकों से घिरा पाएँगे। किताबी ज्ञान के कोलाहल से आप कैसे बच पाएँगे ? शिक्षा ने आपके भीतर जो रूढ़ परम्परागत विचार भर रखे हैं, उन्हें आप मन से कैसे निकाल सकेंगे ? शिक्षा के कोहरे ने आपके मन पर जो आवरण डाल रखा है, उससे आप कैसे मुक्त हो सकेंगे ? आत्म ज्ञान की सबसे बढ़िया और सच्ची तरकीब है, अपने को अज्ञ या नादान बनाना। अपने को अज्ञ बना लेने की कला जितनी उपयोगी है, उतनी ही दुर्लभ भी है। तभी तो करोड़ लेखकों में मुश्किल से हजार विचारक मिलेंगे और हजार विचारकों में शायद एक ही मौलिक आत्मचिंतक होगा। आज के अधिकांश लेखक तो लपसी के समान हैं, जो जिस बर्तन में भर दी जाए, उसी का आकार ग्रहण कर लेती है। ये लोग जैसी रचना पढ़ते हैं अपने ऊपर वैसे ही विचार ओढ़ लेते हैं। जिस विचारधारा के सम्पर्क में आते हैं, उसी के हो लेते हैं।

मन एक ऐसी नदी है, जिसके दोनों किनारों पर हजारों लोग रहते हैं और कपड़े लत्ते धोकर उसे निरंतर गंदला करते रहते हैं। मनोबल उपार्जित किया जा सकता है, बढ़ाया भी जा सकता है और साधा भी जा सकता है। पर ऐसे बल का क्या लाभ, यदि उसे प्रयोग में लाने का साहस न हो ?

जनमत का डर सरकार के प्रतिबंध से भी बड़ा होता है। अधिकांश लेखक जैसे हैं उससे अच्छे इसलिए नहीं हो पाते कि उनके पास विचार तो हैं, पर उन विचारों को व्यक्त करने के लिए चरित्रबल नहीं होता। उनकी यह कमजोरी क्षुद्रता से उपजती है। वे अपने साथी लेखकों से आगे निकल जाना चाहते हैं। पर किसी से आगे बढ़ना हो, तो आपको उसी का मार्ग अपनाना पड़ता है। किसी को पकड़ने के लिए उसी के रास्ते पर चलना होता है। अच्छे और सामान्य लेखकों में जो इतना अधिक साम्य मिलता है उसका यही कारण है कि अच्छा लेखक होता तो सामान्य लेखकों जैसा ही है, पर उनसे थोड़ा बड़ा होता है। वह जाता तो उन्हीं की दिशा में है पर उनसे थोड़ा आगे निकल जाता है। ऐसी स्थिति में मौलिकता कहाँ से आए ?

मौलिक लेखक बनने के लिए अंतःकरण की आवाज को सुनना होता है न कि संसार के कोलाहल को। यही नहीं वहाँ से जो कुछ पाया है या सुना है उसे खुलेआम देने की हिम्मत बाँधनी होती है। समस्त प्रतिभा का मूल है सहृदयता। लोग सहृदय बनें तो प्रतिभावान अपने-आप बन जाएँगे।

यदि आप भीतर की आवाज सुनना चाहते हों तो यह तरकीब आजमा कर देखें : कागजों की एक मोटी गड्डी मँगवा लें और कुछ दिन लगातार वह सब लिखते रहें जो आपके मन में आए। ध्यान रहे कि छल या दिखावे की भावना

आपको छू तक न पाए। जो कुछ भी आपके मन मे आए, लिखते चले जाएँ। चाहे वह कितना ही बेहूदा हो। अपने बारे मे, दुनिया के बारे मे, अपनी पत्नी के बारे मे, अपने बॉस के बारे मे, रात मे खायी जलेबियो के बारे मे, उन्हे बनाने वाले हलवाई के बारे मे या दूसरे ग्राहको के बारे मे—आपके मन मे सगत-असगत जो भी आता जाए, उसे लिखते चले जाएँ। जब मन मे किसी के बारे मे कुछ भी न आ रहा हो तो यही लिख दें कि मन मे कोई विचार ही नही आ रहा। लिखू क्या खाक ?

कुछ ही दिनो मे आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि आपके भीतर अनोखे अनसुने और मौलिक विचारो का बहुत बडा खजाना छिपा पडा है और उसकी चाबी अब आपके हाथ लग गयी है।

(जर्मन लेखक लुडविग बोर्न के सन 1823 मे प्रकाशित लेख के अंग्रेजी-अनुवाद 'द आर्ट आफ बिकमिंग एन ओरिजिनल राइटर इन थ्री डेज' पर आधारित)

□

लेखन धन्धा या गोरखधन्धा

साहित्य-सृजना अब वाङ्मयतप[1] के आकाश से उतरकर व्यवसाय की धरती पर आ टिकी है और बड़ी दृढ़ता से इस आधार को पकड़ रही है। उसकी यह यात्रा जितनी विचित्र है, उतनी ही उद्बोधक भी।

शायद ही कोई ऐसा लेखक होगा जो दिन-भर लिखने-पढ़ने में लगा रहता हो। कुशल और सिद्ध लेखक भी दिन में अधिक-से-अधिक चार पाँच घण्टे लेखन पठन का काम कर पाते हैं और शेष समय में वे चाहें तो कोई दूसरा काम कर सकते हैं। फिर भी प्राय सभी श्रेष्ठ साहित्यकार इस विषय में एकमत हैं कि साहित्य-साधना पूरे दिन का काम है, इसके साथ कोई धन्धा नहीं चल सकता। उससे स्थायी महत्त्व के साहित्य की रचना में बाधा पड़ती है, भले ही वास्तविक रचना कार्य में या तत्सम्बन्धी चिन्तन मनन और पठन-पाठन में कम समय ही लगता हो और शेष समय खाली रहता हो।

लेखन को पूरे दिन की चर्या बना लेने के बाद साहित्यकार उसे अपनी आजीविका का आधार बनाने के लिए मजबूर हो जाता है। उनकी बात अलग है जिनके बाप दादा इतनी सम्पत्ति छोड़ गए हैं कि उन्हें खाने-कमाने की चिन्ता न सताए या जो किसी भी अवस्था में रहकर साहित्य-साधना में रम सकें। पर आज के युग में ऐसे साहित्यकार दुर्लभ ही होंगे।

लेखन को आजीविका का एकमात्र आधार बना लेने पर देर या सवेर उसे व्यवसाय का रूप देना ही पड़ता है अन्यथा लेखक के सामने ऐसी स्थिति आ सकती है कि वह सारा समय और पूरी शक्ति लगाकर रचना पर-रचना करता चला जाए पर उससे आर्थिक उपलब्धि इतनी भी न हो कि अपना और परिवार का पेट भर सके। आज जब आर्थिक सम्पन्नता जीवन का सबसे बड़ा वरदान और धन का अभाव जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप बन गया है तथा पैसा शील,

---

1 अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥
(श्रीमद्भगवद्गीता 17/15)

शक्ति और सौंदय से लेकर ज्ञान, विज्ञान और प्रतिभा तक का प्रतीक बन बैठा है, लेखक अथ के भाव-अभाव के ऊपर उठकर कोरे यश के सहारे लेखनी चलाता जाए, यह कैसे हो सकता है ?

लेखक साहित्य-निर्माण की व्यवसाय के तरीके से चलाता है तो उसके भाग म सबसे बडा प्रलोभन आता है साहित्यकार की बजाय पत्रकार बनने का, क्योंकि साहित्य सजना से इतनी आय नही होती कि दैनिक आवश्यक्ताओ की पूर्ति हो सके और इनकी पूर्ति के लिए उसे 'ऑडर' पर जो हलका फुलका सामयिक साहित्य रचना पडता है वह पत्र-पत्रिकाओ मे ही खप सकता है। पत्र पत्रिकाओ मे खप सकने वाला यह साहित्य उसे स्थायी महत्व के सजनात्मक साहित्य की अपेक्षा कही अधिक आर्थिक लाभ पहुँचाता है। अत इस बात की सम्भावना निरन्तर बढती जाती है कि बाहरी दबावो के वशीभूत होकर लेखक सामयिक महत्व के लेखन की ओर अधिकाधिक झुकता चला जाए और व्यावसायिक प्रति-स्पर्द्धा से प्रेरित होकर ऐसे ऐसे हथकण्डे अपनाने पर उतारू हो जाए जिनका साहित्य से दूर का भी सम्बन्ध न हो।

लेखक की इस ढुलमुल मानसिकता को भाप, सत्ता और धन के गठबधनो न सरक्षण का दम भरते हुए उसके आगे पुरस्कार और पुस्तक-खरीद जैसे अनेक चारे डालकर उसे अपनी धुरी से हिलाने का चक्कर चला दिया है। फलस्वरूप वह सघप का जोखिम भरा रास्ता छोड, सुख-सुविधा की भूलभुलैया म खोने लगा है, अपने पाँव पर खडे होने की कोशिश छोड, तरह-तरह की बैसाखियो को लपक लेने लगा है। सत्ता और सेठ का आश्रय पाने के लिए लेखको मे गलाकाट प्रतिस्पर्द्धा छिड गई है और साहित्य बेचारा नगण्य हो गया है।

इतिहास इस सत्य का साक्षी है कि साहित्यकार ने जब भी किसी प्रकार का आश्रय स्वीकार किया है, उसकी यही परिणति हुई है—उसका स्वस्थ और स्वतन्त्र विकास अवरुद्ध हुआ है और समझौतो के जाल मे फँसकर वह निर्वीय हो गया है। बातचीत के दौरान एक बार मैंने गुप्तबन्धु सियारामशरणजी से लेखक की इस दशा के बारे मे उनकी राय पूछी तो अपना सहज शात स्वभाव छोड, वे उत्तेजित होकर बोले, 'राज्याश्रय ही क्या, किसी भी प्रकार का आश्रय—स्वाश्रय को छोडकर—मैं साहित्यकार के लिए हानिकारक मानता हूँ। नये-नये रूपो मे साहित्यकार जो अपने ट्रेड यूनियन' बना रहा है, उन्हें भी मैं पसद नही करता। साहित्यकार जब अपनी रक्षा के लिए गुहार करने लगता है तो इससे बढकर अशोभन और कुछ नही होता।"

सत्ता और सेठ की छत्रछाया मे साहित्य के कदम आज बडी तेजी स बढ रहे हैं। प्रकाशको और उनके प्रकाशनो की सख्या कई गुणा बढ गई है। पुस्तको की बिक्री मे भी असाधारण वृद्धि हुई है। पर क्या अच्छी पुस्तको और प्रबुद्ध पाठको

की संख्या भी उसी अनुपात में बढ़ी है ? क्या साहित्यकार की डगमगाती आस्था में भी कुछ दृढ़ता आई है ?

पैसे की चकाचौंध में जब आज अनेक प्रतिभाएँ भटक चली हैं और व्यंग्य की पतरबाजी में शक्ति गँवाकर कुण्ठित हो रही हैं, एक प्रश्न बार-बार कौंध जाता है कि साहित्य के क्षेत्र में साधना और व्यवसाय दोनों एक साथ चल सकते हैं कि नहीं ? चल सकते हैं तो कहाँ तक और कैसे ? इन दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों में सामंजस्य बढ़ाएँ भी तो कैसे ? कहीं ऐसा न हो कि व्यवसाय की बाढ़ में साहित्यकार पूरी तरह बह जाए और कालजयी साहित्य रचने के उसके सारे सपने टूट कर बिखर जाएँ ।

●

आस्वाद के आयाम

साहित्यकार साहित्य का स्रष्टा है और पाठक है उसका आस्वादक। साहित्यिक कृति दोनो के बीच सेतु बाँध कर उन्हे जोड देती है। वह सफल सेतु तभी बन सकती है यदि उस पर सवार होकर लेखक का मन्तव्य, उसका कथ्य, पाठक तक निर्बाध और अविकल रूप से पहुँच सके। साहित्य सृजन के दौरान लेखक का सारा आयास जाने अजाने अपने पार उतर कर किसी दूसरे तक पहुँचने के लिए होता है, वह दूसरा चाहे उसके अपने भीतर बैठा वह अकेला पाठक ही हो जो उसकी प्रत्येक रचना का पहला पाठक होता है। यहीं से सप्रेषण की बात उठती है।

साहित्य की सप्रेषणीयता को स्वीकार कर लेने पर पाठक की बात उठती है, सप्रेषणीयता मे पाठक का भाव निहित है ही। पाठक की सफलता इसमे है कि वह रचना मे से वह सब पा ले जो लेखक ने उसमे डाल रखा है, उसके लिए अप्राप्य कुछ भी न रहे। साहित्यकार अपने साहित्य-जगत् का स्रष्टा है। उस जगत् के पेड-पौधो नदी-नालो से लेकर उस जगत मे विचरने वाले सुख दुख के उपभोक्ता पात्रो तक को रचने वाला भी वही है। स्रष्टा होने के नाते वह अपने पात्रो को नस-नस से परिचित होता है, उन्हे बाहर और भीतर दोनो तरफ से पूरी तरह जानता है। वह अपने पात्रो का स्रष्टा तो है ही उनकी कहानी कहने वाला 'नरेटर' भी वही है। स्रष्टा और नरेटर दोनो के गुणो का उसमे समाहार हो जाने से वह स्रष्टा से भी अधिक समर्थ हो जाता है। सिद्धान्तत उसे अपनी अनुभूति की पूर्णाभिव्यक्ति करने मे सफल होना चाहिए और पाठक यदि पूरे मनोयोग से पढता है तो कृति के माध्यम से उसे वह सब कुछ मिल जाना चाहिए जिसे लेखक उस तक पहुँचाना चाहता है या जिसे उसने कृति मे डाल रखा है। दूसरे शब्दो मे, पढते-पढते पाठक की कल्पना मे पात्र और उसकी परिस्थिति का हूबहू वही स्वरूप उभरना चाहिए जो लिखते समय लेखक की कल्पना मे था। ऐसा हो सकना तो चाहिए, पर हो नहीं पाता, भला क्यो ?

साहित्यकार सप्रेषक है, साहित्य-विधा है 'ट्रासमिटर' और पाठक ।९

है। लेखक जो कहता है वह पाठक तक हूबहू तभी पहुँच सकता है यदि ये तीनो—यानी सप्रेषक ट्रासमिटर और ग्रिसीवर—एक साथ निर्दोष काम करते रहे, इनमे कभी कोई दोष न घुस पाए। पर इन तीनो का निरन्तर निर्दोष बने रहना अत्यन्त कठिन है। कुछ क्षण ही वे एक साथ ठीक ठीक चल पाते हैं कि किसी एक दो या तीनो मे कोई दोष घुस आता है, सप्रेषणीयता मे गडबड पड जाती है और चित्र विकृत होने लगते हैं। यह गडबड तीन कारणो से हो सकती है। हो सकता है कि लिखते समय लेखक स्वय ही स्पष्ट न हो पाया हो, जो चित्र वह खीचना चाहता है उसकी कल्पना मे वह धुधला ही रहा हो, पर फिर भी किसी कारणवश उसे लिखना पड रहा हो। यह भी हो सकता है कि लिखते समय उसकी कल्पना मे जो चित्र उभरे हैं, वे तो स्पष्ट हो, पर उनकी गहन अनुभूति का भार ढोते ढोते किसी बीहड स्थल पर उसकी अभिव्यक्ति लडखडा गई हो। या यह हो सकता है कि लेखक की अनुभूति और अभिव्यक्ति मे तो ठीक-ठीक ताल-मेल चल रहा हो, पर पाठक ग्रहण करने की मन स्थिति मे न हो, उसके बाहर या भीतर खलबली मची हो। या यो कहें कि सप्रेषक और पारेषण यन्त्र तो ठीक चल रहे हो पर गहीता मे दोष घुस आया हो। सप्रेषण प्रक्रिया के पहले दो अगो अर्थात अनुभूति और अभिव्यक्ति तक तो लेखक की पहुँच है और वह उन्हें निर्दोष बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रह सकता है और रहता भी है, पर तीसरे यानी पाठक पर उसका कोई वश नही चलता। उसे निर्विकार बनाने मे वह कुछ भी नही कर सकता।

साहित्य सजन की तरह साहित्यास्वादन के लिए भी अत्यन्तावश्यक है कि उस समय पाठक के सभी भीतरी तनाव ढीले पड जाएँ और यदि शारीरिक नही तो कम से कम मन से वह पूरी तरह शान्त हो। मानसिक तनाव मे ग्रहण किया हुआ साहित्य विकृत हो जाता है, अपने मूल रूप से बहुत दूर हट जाता है। इसीलिए, दादी नानी की कहानी तभी आरम्भ हुआ करती है जब बच्चे खाट पर लेट जाते है और उनके शारीरिक और मानसिक तनाव ढीले पड जाते है। रसिक जन जानते हैं कि साहित्य के आस्वादन के लिए सर्वोत्तम समय रात को सोने से पहले का होता है। रात का समय साहित्यास्वादन के लिए सर्वोत्तम इसलिए होता है कि दिन भर के सघर्ष के बाद आराम पाकर शरीर के सब तनाव ढील पड जाते हैं लगातार कई घण्टो के कठोर नियन्त्रण से ऊबकर चेतन भी ढीला पडने लगता है और मन का विमान जीवन के कटु यथार्थ की भूमि से उडान भरकर कल्पना लोक मे विचरना चाहता है। साहित्य उसे वाछित कल्पना-लोक प्रदान करता है। जो कुछ वह वस्तुजगत मे होता देखना चाहता है उसे साहित्य-कृति मे होता देखकर और जो वह स्वय करना चाहते हुए भी नही कर पाता उसे उपन्यास या कहानी के पात्रो को करता देख उसे सन्तोष मिलता है। दिन भर की

चोटों से घायल उसके अहं पर साहित्य मरहम का काम करता है।

तनाव की स्थिति में पढ़ा गया साहित्य पूरी तरह समझ में नहीं आता, इसकी अपेक्षा यह कहना अधिक ठीक होगा कि तनाव की स्थिति में हमारी समझ में साहित्य-कृति का जो रूप उभरता है वह उसके वास्तविक रूप से कोसों दूर होता है। किसी परीक्षा की तैयारी के लिए पुस्तकालय से या किसी मित्र से कुछ दिनों के लिए माँगकर पढ़ी हुई पुस्तक, रिव्यू के लिए तकादे पर-तकादे आने पर तीन दिन में पढ़ा गया सौ पृष्ठ का उपन्यास या किसी 'बिजनेस' मीटिंग से पहले प्रतीक्षा भवन में बैठकर पढ़ी गई कहानी जब हम कभी अवकाश पाकर पूरी तरह आराम से पढ़ते हैं तो हमारे सामने उसका एक नया स्वरूप उभरता है, एक नया अर्थ खुलता है और हमें पहले लगाए गए अपने अर्थ की मूर्खता पर आश्चर्य होता है। कई बार तो ऐसा लगता है मानो पहले पढ़ी हुई नहीं, बल्कि एकदम नई पुस्तक पढ़ रहे हों।

किसी साहित्य-कृति को ठीक-ठीक समझने के लिए, उसमें निहित भाव और अर्थ को पाने के लिए, यह भी जरूरी है कि पाठक पूरा नहीं तो एक सीमा तक आवेगों और संवेदनाओं के भार से मुक्त हो, दबाव की स्थिति में पाठक कृति के सम्प्रेष्य अर्थ को या तो ग्रहण ही नहीं कर पाता, आयासपूर्वक ग्रहण करता भी है तो परिस्थिति के अनुरूप विकृत करके ही जिससे कि उस अवस्था का उद्दीपन हो सके। मानिए, रात को कामासक्ति की अवस्था में एक व्यक्ति उपन्यास लेकर बैठा है। वह उसमें खो जाना चाहता है पर दोपहर में देखे 'मैटिनी शो' की नायिका बार-बार उसकी स्मृति में उभरकर अपने आकर्षक हाव भाव दिखा, उसे उकसाती हुई लुप्त हो जाती है। वह न उपन्यास की नायिका को पकड़ पाता है और न उस शो की नायिका को ही। और यदि वह उपन्यास जिसमें वह खो जाने का प्रयत्न कर रहा है यशपाल का 'मनुष्य के रूप' या डी० एच० लारेंस का 'लेडी चटर्लीज लवर' हो और वह अश्लील कहे जाने वाले दृश्यों तक पहुँच चुका हो तो बहुत सम्भव है कि वह इन दृश्यों के ऊपरी रूमानी वातावरण से अपनी कामाग्नि को ही प्रज्वलित करता रहे और उनकी तह में पूँजीवाद के प्रति जो तीखा व्यंग्य निहित है उस तक न पहुँच पाए। यह भी हो सकता है कि जब तक उसे स्वस्थ मन से इन उपन्यासों को पढ़ने का अवसर न मिले, वह इन्हें कामोद्दीपक अश्लील रचनाएँ ही मानता रहे।

अपराध भावना से पीड़ित पाठक भी किसी साहित्य-कृति को पूरी तरह नहीं पा सकता। जरा कल्पना कीजिए उस युवती की जिसके मन पर बचपन से ही ये संस्कार पड़े हैं कि लड़कियों को उपन्यास नहीं पढ़ने चाहिए। वे गन्दे और अश्लील होते हैं, उन्हें पढ़ने से लड़के लड़कियाँ बिगड़ जाते हैं। ऐसी लड़की यदि किवाड़ बन्द करके ज़ोला का उपन्यास 'नाना' पढ़ रही हो और अपने कमरे के पास से

गुजरते हुए लोगों की पग ध्वनि सुनकर पुस्तक को बन्द करके बार-बार इस डर से तकिए के नीचे छुपा लेती हो कि कहीं कोई उसे बुलाने न आया हो, तो उसने कृति को जिस रूप में ग्रहण किया होगा उसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। ऐसा पाठक जो पहले से ही कृति को अश्लील, अतः निषिद्ध, मानकर पढ़ता है और वह भी अपराध भावना के अधीन, वह उसमें से कामोद्दीपक भावों के अतिरिक्त और भी कुछ पा सकेगा, इसमें सन्देह है। अपने उपन्यास में ज़ोला ने पूँजीवादी युग की कामुकता की जो पोल खोली है और नाना के रूप में शोषित नारी की भस्मकारी प्रतिशोधाग्नि के जिस प्रचण्ड रूप का चित्रण किया है, ऐसा पाठक उस तक शायद ही पहुँच पाए।

इस तरह की अनेक स्थितियाँ हो सकती हैं जब पाठक ग्रहण करने की सही स्थिति में नहीं होता और लेखक तथा कृति के निर्दोष होते हुए भी, अपनी भीतरी गड़बड़ के कारण वह कृति के वास्तविक स्वरूप को नहीं पकड़ पाता। पर जहाँ लेखक और पाठक के जीवन-दर्शन में, जीवन और जगत के प्रति उनकी धारणाओं में आकाश-पाताल का अन्तर हो वहाँ रचना को स्वस्थ मन से पढ़ने और पढ़कर समझने की लाख चेष्टा करने पर भी पाठक शायद ही उसे पूरी तरह पा सकेगा। ऐसा पाठक रचना को उसके मूलरूप में, उसे विशेष विकृत किए बिना, पा सकेगा, इसमें सन्देह है। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि ऐसे पाठक की अपनी मान्यताएँ पग-पग पर उसके और कृति के बीच में अड़कर कृति में उसका सायुज्य स्थापित होने में बाधा डालती रहें? जैनेन्द्र के उपन्यास 'सुनीता' या 'सुखदा' को अज्ञेय तथा अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' को जैनेन्द्र क्या और कितना पा सके होंगे, यदि यह जाना जा सके तो इस दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण होगा।

कोई पाठक कोरा पाठक ही नहीं होता, वह स्रष्टा भी होता है। स्रष्टा लेखक ही नहीं, पाठक भी है। कृति से उसे जो कुछ मिलता है उसके आधार पर और कृति द्वारा उद्दीप्त सहस्मृतियों के आधार पर वह पुस्तक पढ़ते-पढ़ते अपना ही एक संसार रचता जाता है जो कृति के संसार से भिन्न होता है और पढ़कर पुस्तक अलग कर देने पर भी उसके पास बना रहता है। बाद में जब कभी पुस्तक पर चर्चा छिड़ती है तो यही संसार उसके स्मृति-पट पर उभर आता है और आलोचना का आधार बनता है। पाठक की कल्पना में विद्यमान यह संसार जो आस्वाद का आधार बनता है, कृति के संसार से भिन्न होता है—यह भिन्नता चाहे थोड़ी हो या बहुत, पर होती ज़रूर है। यह भिन्नता आस्वाद के अनन्त आयामों को जन्म देती है।

पाठकीय पकड़

रचना प्रक्रिया के दौरान कृतिकार का तो मानस-मथन होता ही है, पर कृति को पढ़ते समय पाठक भी भीतर ही भीतर कम नहीं मथा जाता। कृति के माध्यम से जो पाठक तक पहुँचना चाहता है और उसके भीतर जो पहले से ही विद्यमान होता है, उन दोनों का संगम सहज नहीं हो जाता। कृति में से जो पाठक की ओर आता है उसे पाने और पचाने में, समझने और सभालने में, कई बार तो पाठक के समूचे व्यक्तित्व को जूझ जाना पड़ता है।

समझने और सभालने की यह प्रक्रिया कृति को पढ़कर अलग कर देने पर समाप्त नहीं हो जाती, बल्कि पाठक के चेतन-अवचेतन में वर्षों चलती रहती है। कोई रचना जितनी अधिक सशक्त होती है, उतनी ही अधिक देर तक वह पाठक के भीतर घर किए रहती है, उसके मन और मस्तिष्क में बसी रहती है। किसी भी कृति की परिणति पुस्तक के पन्नों में नहीं होती, बल्कि पाठक की अपनी कल्पना में होती है। उसके मनोजगत में ही वह पूर्णता प्राप्त करती है तथा नाना रूप धारण करती हुई उसके जीवनानुभवों के साथ विभिन्न मोड़ लेती रहती है। पाठक की अपनी समझ के विकास के साथ वह भी विकसित होती हुई अपने अनेक आयाम खोलती जाती है। यह बात निष्कर्षहीन रचनाओं पर, निष्कर्षहीन कहानियों पर विशेष रूप से लागू होती है।

उदाहरणार्थ, जैनेन्द्र की 'तत्सत' नामक कहानी को लें, जिसकी गिनती हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियों में होती है। आकार में यह कहानी छोटी है, पर है बहुत गहरी। इसके माध्यम से लेखक किसी गहन सत्य को उद्घाटित करता प्रतीत होता है। पर यह सत्य क्या है, यह साफ-साफ पकड़ में नहीं आता, क्योंकि उसका अन्त सूक्ष्म एवं व्यंजनात्मक है और लेखक उसे किसी ठोस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचाता।

कहानी बस इतनी ही है कि दो शिकारी एक गहन वन में पहुँचे और एक बड़े वटवृक्ष की छाँह तले बैठकर आपस में बातें करने लगे। एक ने कहा, "ओह, कैसा भयानक वन है!" और दूसरे ने कहा, "ओह, कितना घना जंगल है!" इसी तरह कुछ देर बात करके और विश्राम करके वे लोग आगे बढ़ गए। उनके चले जाने

पर बबूल के पेड ने वटवृक्ष से कहा, "बड दादा, ये लोग किसी भयानक वन की बात कर रहे थे। क्या तुमने उस भयावने जगल को देखा है ?" शीशम ने जोडा, "हा दादा, सुना तो मैंने भी था। यह जगल क्या होता है ?" बड दादा ने कहा, "सच पूछो तो भाई, इतनी उमर हुई, उस भयावने वन को तो मैंने भी नही देखा। सभी जानवर मैंने देखे है। शेर, चीता, भालू, हाथी, भेडिया। पर वन नामक जानवर को मैंने अभी तक नही देखा।' एक और पेड ने कहा, "मालूम होता है वह शेर चीते से भी अधिक डरावना है।" इस तरह पेड पौधो और पशु पक्षियो मे खलबली मच गई कि वन नाम का कोई बहुत भयकर जानवर है। पर खोज खबर के बाद भी कोई यह न बता सका कि वह कौन, कैसा और कहा है। अतत यही तय हुआ कि जब वे लोग फिर इधर आएँ तो उनसे साफ-साफ पूछा जाए कि वन नामक भयकर प्राणी कहा है।

एक रोज अचानक वे शिकारी फिर उस जगह आ गए। उनका आना था कि सारा जगल जाग उठा। बहुत से जीव-जन्तु, झाडी पेड तरह-तरह की बोली बोल कर अपना विरोध प्रकट करने लगे। शिकारी घबरा गए। पर बड दादा ने स्थिति अपने हाथ मे लेते हुए उन आदमियो से कहा, 'भाई आदमियो, डरो मत। बस हम यह बताओ कि वह वन क्या है जिसकी तुम बात किया करते हो।" अभय पाकर आदमी बोले, 'यह वन ही तो है जहा इस समय हम सब है।" उनका इतना कहना था कि चीची कीकी सवाल पर-सवाल होने लगे। "जगल कहाँ है ? कही नहीं है।" 'तुम हो। मैं हूँ। यह है। जगल फिर हो कहाँ सकता है ?' 'तुम झूठे हो। धोखेबाज हो।' स्वार्थी हो।' 'हमे डराने आए हो।' "खतम कर दो इनको।' इस हो हल्ले मे आदमी थर-थर कापने लगे। फिर भी हिम्मत बटोरकर बोले 'भाइयो, वन कहा दूर या बाहर नही है। आप लोग सभी वन ही तो हो।" इतना सुनना था कि सब एक साथ फिर उन पर बरस पडे क्या कहा ? मैं जगल हूँ। तब बबूल कौन है ?" 'मूढ, क्या मैं यह मानू कि मैं बाँस नहीं, जगल हूँ। मेरा रोम रोम कहता है कि मैं बाँस हूँ।' 'और मैं घास हूँ।' 'मैं शेर हूँ।' 'मैं हाथी हूँ।" इस तरह ऐसा शोर मचा कि उन बेचारे आदमियो की अक्ल गुम हो गई। बड दादा न होते तो उन दोनो का काम तमाम हो जाता।

बड दादा ने उनमे से एक के कान मे कुछ कहा और देखते ही देखते वह आदमी विशाल वटवृक्ष पर चढने लगा और चढते-चढते उसकी सबसे ऊपर की फुनगी तक पहुँच गया। वहाँ दो नये-नवे पत्तो की जोडी खुले आसमान की तरफ देख रही थी। आदमी ने उन दोनो पत्तो को प्यार से पुचकारा और क्षण भर मे पत्तो की वह जोडी उद्ग्रीव हुई मानो उसमे चेतना आ गई हो। जैसे उन्होने घड़ का कुल मे देख लिया हो। देख लिया हो कि कुल है, घड नहीं है। बड दादा ऐसे स्थिर शात थे मानो योगमग्न हों। सहसा उनकी समाधि टूटी। वे आगे कि

माना उन्हें अपने चरम शीर्ष से, अपने भीतर के भीतर से, तभी-तभी कोई नई अनुभूति प्राप्त हुई हो। उनके आस-पास सब सप्रश्न मौन खड़े थे। मौन का भंग करते हुए बड दादा बोले, "वह है" और फिर चुप हो गए। सुनकर सब हैरान रह गए और एकदम पुकार उठे, "दादा, दादा!" दादा ने बस इतना ही कहा, "वह है वह है।" सबने एक स्वर से पूछा, "कहाँ है, कहाँ है?" दादा बोले, "सब कहीं है। सब कहीं है।" सब एकसाथ बोल उठे, "और हम?" शात स्वर मे दादा बोले, "हम नहीं, वह है।" बस यहीं कहानी समाप्त हो जाती है और समाप्त होते-होते पाठक की समझ को चुनौती देती हुई अपनी परिणति की अनन्त संभावनाएँ जगा जाती है।

पाठक की समझ म यह बात तो आ जाती है कि कहानी के आरभ म वन मे रहते हुए भी, उसका अंश होने पर भी, कोई भी पेड-पौधा या जीव-जन्तु वन के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, पर अंत तक पहुँचते-पहुँचते बड दादा को कोई विचित्र अनुभूति होती है जिससे वह अपने को नकार कर, वन को, विराट को, पूर्णत स्वीकार करने लगता है, और यह परिवर्तन होता है बड दादा के भीतर जागी एक नयी अनुभूति के कारण। पर यह अनुभूति वास्तव में क्या थी और बड दादा को क्योंकर हुई यह सब लेखक ने पाठक की समझ पर, उसकी कल्पना पर, उसके विवेक पर छोड दिया है। अपने विज्ञान-सबधी अनुभव के सहारे पाठक को लगता है कि आदमी ने वटवृक्ष के शिखर पर चढ, ज्यो ही उसकी नवीनतम फुनगी का छूकर ऊँचा किया वह बड का एरियल बन गयी और उसके माध्यम से रेडियो या टी० वी० सैट की तरह बड दादा आकाश से जुड गए, बेहद वायुमण्डल मे साँस लेने लगे तथा उनके व्यक्ति का अह क्षीण होकर विराट मे विस्तार पाने लगा, उनका व्यक्ति अपने को विराट का अग महसूस करने लगा। इस विचित्र अनुभूति के फलस्वरूप बड दादा की समाधि लग गयी और व अपने भीतर विराट से साक्षात्कार करने लगे, ठीक उसी प्रकार जैसे रेडियो या टी०वी० सेट मे विराट विश्व उतर आता है। कहानी के शब्दो म कहे तो बड दादा ने खड को कुल म यानी सम्पूर्ण मे देख लिया और उसे लगा कि बस सपूर्ण ही है और वह सब जगह है।

इस कहानी के लेखक जैनेन्द्र का विश्वास है कि विराट से यानी सम्पूर्ण से ऐक्यबोध ही सबसे बडा ज्ञानलाभ है और सम्पूर्ण से कट कर अपने अह मे सिमट आना और खड बन कर शून्य हो जाना ही जीव की सबसे बडी समस्या है। नितात एकाकी रहकर किसी को कैसे सुख मिल सकता है? ताड के पेड की तरह ऊँचा तन कर कोई कब तक खडा रह सकता है? इसीलिए ले-देकर अह को अखिल मे खो जाना है लीन हो जाना है। आत्मार्पण म ही आत्मोपलब्धि है। कहानीकार का यह दर्शन प्रकारान्तर से इस कहानी मे चरितार्थ हुआ है। बड

दादा अन्तर अपने अहं को अतिम में खोकर सम्पूर्ण से ऐक्यबोध की प्राप्ति कर लेते हैं।

पाठक चाहे तो आध्यात्मिक अनुभूति के फेर में न पड़कर इस कहानी को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में भी समझने का प्रयास कर सकता है। आज के आपाधापी के युग में कोई पूछे कि भारत कहाँ है तो उसे क्या बताएँगे? पंजाब तो है, उत्तर प्रदेश भी है, केरल, पश्चिम बंगाल, तामिलनाडु, गुजरात और महाराष्ट्र भी है। पर भारत कहाँ है? कोई पंजाबी है, कोई बंगाली है, कोई गुजराती है, कोई मराठी है, पर कहीं कोई भारतीय दिखता है क्या? दिखे भी तो कैसे? हम सब तो अपने-अपने प्रदेश के अहं में सिमट कर सम्पूर्ण देश से कट चुके हैं और कटकर शून्य होते जा रहे हैं। आज़ादी से पहले भारत सब जगह दिखता था, क्योंकि तब हम भारतीय पहले थे और बंगाली, पंजाबी, मद्रासी, मराठी आदि बाद में। आज हमारी मूल समस्या ही यह है कि हम खंड-खंड होकर बिखर रहे हैं। खंड के सिवाय हम कुछ रहे ही नहीं। सम्पूर्ण भारत से हमारा ऐक्यबोध लुप्त हो गया है। इसी ऐक्यबोध को पुनः प्राप्त करना होगा। किसी पाठक का इस निष्कर्ष पर पहुँचना क्या असंगत कहा जा सकता है?

इस प्रकार, मानना होगा कि कृतिकार ही सर्जक नहीं होता, पाठक भी सर्जक होता है, बल्कि आस्वाद के धरातल पर ग्रहण करते समय वह सह-सर्जक के रूप में उसे अपने रंग में भी रंगता जाता है। इसीलिए प्रत्येक रचना, विशेष कर निष्कर्षहीन रचना, अपने पाठकों तक भिन्न भिन्न रूपों में पहुँचती है और हर पाठक पर अपना और अपने सर्जक का नया रूप खोलती है। शेक्सपियर के बारे में कहा जाता है कि उसके जितने पाठक हैं उनके निकट शेक्सपियर के उतने ही रूप हैं। यह बात न्यूनाधिक रूप से हर कवि पर, हर कथाकार पर और उसकी हर रचना पर लागू होती है। इसी बात को गोस्वामी तुलसीदास बहुत पहले और निराले अंदाज़ में कह गए हैं, "जाकी रही भावना जैसी/प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।'

आस्वाद और अनुवाद मे कशमकश

साहित्य के अनुवाद मे पेश आने वाली मूल समस्या को समझने के लिए ज्ञान-विज्ञान के साहित्य और सर्जनात्मक साहित्य के प्रवृत्तिगत अन्तर को जानना होगा।

ज्ञान विज्ञान का साहित्य अभिधात्मक अत एकार्थक होता है, जबकि सर्जनात्मक साहित्य, विशेषत काव्य, व्यजनात्मक अत अनेकार्थक होता है। एकार्थकता वैज्ञानिक साहित्य का गुण मानी जाती है और काव्य का दोष। इसी तरह अनेकार्थकता काव्य का गुण मानी जाती है और वैज्ञानिक साहित्य का दोष।

प्रत्येक कृति अपने पाठको तक भिन्न भिन्न रूपो म पहुँचती है और हर पाठक पर अपने रचयिता का नया रूप खोलती है। कहा जाता है कि शेक्सपीयर के जितने पाठक हैं उनके निकट शेक्सपीयर के उतने ही रूप हैं (There are as many Shakespeares as there are Shakespeare's readers)यह बात न्यूनाधिक रूप से हर साहित्यकार पर लागू होती है।

साहित्य के अनुवादक को पाठक और रचयिता, बल्कि सहृदय और सर्जक, दोनो की भूमिका म उतरना होता है। पहले पाठक के रूप मे रचना को ग्रहण करना होता है और फिर गृहीत रचना की लक्ष्य भाषा मे पुन सर्जना करनी होती है। रचना को पूरी तरह पाने के प्रयास मे उसे सही अर्थ मे पाठक बनना होता है, सहृदय होना होता है—रचना के प्रति पूर्णत उन्मुक्त होकर, उसके प्रति अपने को पूरी तरह खुला छोडकर।

कविता को ही लें। उसके माध्यम से पाठक तक जो पहुँचना चाहता है और उसके भीतर जो पहले से ही होता है, उन दोनो का मिलन सहज नही हो जाता। कृति म से जो पाठक की ओर आता है उसे पाने और पचाने म कई बार तो पाठक को समूचा जूझ जाना पडता है। यह प्रक्रिया रचना पढकर अलग कर देने पर भी समाप्त नही होती बल्कि बहुधा पाठक के चेतन-अवचेतन म वर्षो चलती रहती है। किसी काव्य की परिणति पुस्तक के पन्नो म नही, बल्कि पाठक के

मनोजगत मे होती है और उसके जीवनानुभवो के अनुसार नये-नये मोड भी लेती रहती है।

इस तरह, मानना होगा कि साहित्यकार ही सजक नही होता, पाठक भी सजक होता है और रचना को ग्रहण करते समय वह उसे अपने रग मे भी रँगता जाता है।

ग्रहण या आस्वाद की इस प्रक्रिया म ही यह निहित है कि मूल रचना का कुछ न कुछ ग्रहण होने स रह जाए और उसम गृहीता का अपना कुछ जुड जाए। फिर लक्ष्य भाषा म उसका अनुवाद करते समय भी यह सम्भव नही कि उसका गहीत रूप उसमे पूर्ण अभिव्यक्ति पा सके। उस गृहीत मे से कुछ छूट सकता है और इतर कुछ जुड भी सकता है। इस तरह मूल का कुछ छूटना और कुछ मूलेतर का जुडना बहुगुणित होता जाता है।

जिस प्रक्रिया मे मूल का कुछ न कुछ छूट जाए और मूलेतर कुछ न कुछ जुड जाए चाहे यह अजाने मे ही हो, उसे 'अनुवाद' की सज्ञा दना कहाँ तक उचित होगा ? जबकि अनुवादक से अपेक्षा की जाती है कि वह मूल मे से न कुछ छाडे और उसम न कुछ जोडे ही।

लाख चेष्टा करने पर भी काव्यानुवाद मे छोडन जोडन स, लाप और वद्धि से, बच पाना लगभग असम्भव मानते हुए ही यह मत जोर पकडने लगा है कि काव्य का अनुवाद असम्भव है The very idea of translating poetry is something absu d and impossible (V Hugho)

अनुवाद की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए यह मान लिया गया कि सजनात्मक कृति का अनुवाद मात्र अनुवाद नही, उससे कुछ अधिक है, लक्ष्य-भाषा मे मूल की एक प्रकार से पुन सजना है। पर इस स्वीकारोक्ति से भी समस्या सुलझती नही बल्कि और उलझ जाती है। अनुवाद म पुन सजना की अनिवायता स्वीकार कर लन स अनुवादक को छोडन-जाडने की छूट मिल जाती है। इस निबध छूट के कभी कभी ता विचित्र परिणाम सामन आत है। उदाहरण के लिए हम यहाँ उमर खैयाम की एक रुबाई और फिट्जजेराल्ड, हरिवशराय बच्चन और सुमित्रानन्दन पन्त द्वारा किए गए उसके अनुवाद सलग्न है। य तीनो अनुवाद एक ही रुबाई को अलग-अलग तीन आरोपित आयाम प्रदान करते ह।

उमर खयाम को रुबाई

(मूल)

आमद सहरे निदा ज मयखाना-ए-मा।
के रिंद खराबाती व दीवान ए मा।

बरखेज कि पुरकुनेम पैमाना जे मय,
जा पेश कि पुरकुनद पैमान-ए-मा।

(सुबह होते ही मदिरालय से आवाज आई कि ऐ पीने वाले व मेरे दीवाने! उठ और शराब से अपने प्याले को भर ले। कब्ल इसके कि हमारे शरीर की मिट्टी से बने प्याले भर जाएँ।)

—उमर ख़ैयाम

(अनुवाद)

Dreaming when Dawn's left hand was in the sky
I heard a voice within the tavern cry,
'Awake my little ones, and fill the cup
Before Life's Liquor in its cup be dry'

—Fitzgerald (Rubaiyat of Omar Khayyam, 2)

उषा ने ले अँगड़ाई, हाथ
दिए जब नभ की ओर पसार,
स्वप्न में मदिरालय के बीच
सुनी तब मैंने एक पुकार—
'उठो, मेरे शिशुओ नादान,
बुझा लो पी पी मदिरा भूख,
नहीं तो तन प्याली की शीघ्र
जायगी जीवन मदिरा सूख।'

—बच्चन (ख़ैयाम की मधुशाला, 2)

खोलकर मदिरालय का द्वार
प्रात ही काई उठा पुकार
मुग्ध श्रवणों में मधु रव घाल,
जाग उन्मद मदिरा के छात्र।
ढुलक कर यौवन मधु अनमोल
शेष रह जाय नहीं मदु मात्र,
ढाल जीवन मदिरा जी खोल
लबालब भर ले उर का पात्र।

—सुमित्रानन्दन पंत (मधुज्वाल, 2)

किसी ने ठीक ही कहा है कि मन के पुष्पण क्षणों की आधी पखुड़ियाँ तो भाषाभिव्यक्ति में गिर जाती हैं और तीन चौथाई अनुवाद के दौरान (The

flowering moments of the mind drop half their petals in speech and three fourth in translation) काव्योन्मेष (poetry) का अभिलिखित रूप है कविता (poem)। कवि के भीतर की गहराइयों में से, उसके अवचेतन अचेतन की विभिन्न पर्तों को फोड़कर, जो अभिव्यक्ति पाने के लिए मचल रहा होता है वह पूरे का पूरा कभी उसकी कल्पना की, उसके चेतन की पकड़ में नहीं आता, उसकी अभिलिखित कविता में नहीं ढल पाता। बहुत-कुछ अनभिव्यक्त रह जाता है, छूट जाता है और उसका स्थान 'कुछ और' ले लेता है जो चेतन की उपज होती है और कविता को एक तारतम्य, एक अन्विति प्रदान करने की चेष्टा करता है। यह अन्विति प्राय आरोपित होती है। Poetry किसी बाहरी अन्विति की मोहताज नहीं होती—वह न जाने कितने व्यष्टि-सत्यों और समष्टि सत्यों को एक साथ व्यक्त करने को मचल रही होती है पर कवि का चेतन उसे अपनी ही तरह से ग्रहण कर रिकार्ड कर, उसे एक ऊपरी व्यवस्था भी प्रदान कर देता है। यह आरोपित अन्विति, सतही व्यवस्था, बड़ी भ्रामक हो सकती है, मूल कविता को कृत्रिम मोड़ दे सकती है।

काव्योन्मेष (poetry) का जो अंश कविता (poem) में आने से रह जाता है छूट जाता है, और उसके अभाव में कविता का जो क्षति पहुँचती है, उससे कई गुणा अधिक क्षति 'कुछ और' के जुड़ जाने से होती है जो काव्योन्मेष पर एक प्रकार का आरोपण होता है पर उसका ही अभिन्न अंग होने की प्रतीति उत्पन्न करता है।

इसी प्रकार साहित्यानुवाद की प्रक्रिया में मूल का जो अंश अनुवाद में ढलने से रह जाता है छूट जाता है, और उसके अभाव में अनुवाद को जितनी क्षति पहुँचती है उससे कई गुणा अधिक क्षति उसमें उस 'कुछ और' के जुड़ जाने से होती है जो मूल लेखक या उसकी रचना का नहीं, बल्कि अनुवादक का अपना होता है, पर मूल के होने की प्रतीति उत्पन्न करता है। मूल रचना को सबसे बड़ा खतरा इसी से है। लोप और वृद्धि के योग से अनुवाद में एक विचित्र विकृति का समावेश हो जाता है।

बहुधा यह मान लिया जाता है कि साहित्यकार द्वारा अपनी रचना का स्वयं किया गया अनुवाद प्रामाणिक होता है। अनुवाद के क्षेत्र में इससे बड़ा भ्रम भला और क्या होगा?

गया वक्त फिर हाथ नहीं आता। कोई भी सृजन-क्षण और उसकी सर्जक मानसिकता, सर्जक के लाख चाहने पर भी नहीं लौट सकती। मूल रचना और उसके रचयिता द्वारा स्वयं किया गया अनुवाद, या वह पुनःसर्जना दो विभिन्न मानसिकताओं की उपज होती है—चाहे एक ही व्यक्ति की दो मानसिकताओं की। यदि मूल रचनाकार अपनी रचना के प्रति सहृदय हुए बिना, अपने को उसके

प्रति पूरी तरह खुला छोडे बिना,'उसका स्रष्टा होने का दम भरते हुए उसका अनुवाद अथवा पुनःसृजन करता है'–तो किसी भी अन्य अनुवादक की तरह वह भी मूल रचना से भटक सकता है। अपनी मूल रचना मे पूरी तरह डूबकर उसका अनुवाद करे तो भी वह लक्ष्य-भाषा मे मूल को अविकल रूप मे नही ला सकता।

मूल लेखक द्वारा अपनी रचना का स्वय अनुवाद करने मे एक और खतरा भी है। स्वय स्रष्टा होने के दम्भ मे वह मूल के प्रति प्राय छूट ले लेता है, जबकि अन्य अनुवादक पुन सजना की लाख उडानो के बावजूद अनुवादक के नाते अपने को मूल रचना की डोर मे बँधा पाता है, उसके सजक-अनुवादक की भाँति वह उससे छेडछाड करने की हिम्मत नही कर सकता। परिणामस्वरूप अनुवादक के रूप मे मूल लेखक पुन सृजन के बहाने प्राय एक भिन्न रचना की सृष्टि कर डालता है जो मूल से घटिया भी हो सकती है और बढिया भी, पर हू-ब-हू मूल के समान नही हो सकती।

पूछा जा सकता है कि पश्चिम की मानसिकता को ध्यान मे रखकर गीताजलि की कविताओ का अग्रेजी-अनुवाद करने वाला टैगोर क्या हू-ब-हू वही टैगोर था जिसने वर्षों पहले भीतरी प्रेरणा के वशीभूत होकर बाँग्ला मे मूल गीताजलि की रचना की थी ? क्या उस अग्रेजी-अनुवाद को केवल इसीलिए प्रामाणिक अनुवाद मान लिया जाए कि वह स्वय कवि ने किया है ? क्या गीताजलि का मूल रचनाकार टैगोर और अनुवादक टैगोर दोनो अपने सृजन-क्षणो मे शत-प्रतिशत एक समान थे ?

यहाँ हम अज्ञेय की एक मूल हिन्दी-कविता 'एक बूद सहसा उछली' दे रहे है और साथ ही स्वय उनके द्वारा किया गया उसका अग्रेजी-अनुवाद भी। जरा गौर से देखिए कि कवि का अपना अनुवाद मूल कविता की गहनता को कितना अक्षुण्ण रख पाया है—

मैंने देखा, एक बूद	I saw a drop
मैंने देखा	I saw
एक बूद सहसा	A drop suddenly
उछली सागर के झाग से	Fly from the scum of the sea
रँगी गई क्षण भर	Flare for a second
ढलते सूरज की आग से।	Fire from the mellowing sun alight
मुझको दीख गया	So there, I thought
सूने विराट के सम्मुख	Against the wall of emptiness
हर आलोक छुआ अपनापन	This light shot one

है उन्मोचन	Has found release
नश्वरता के दाग से।	From being blurred to nothing

अब अज्ञेय के अपने अंग्रेजी-अनुवाद की तुलना कीजिए अजित खुल्लर के इस अंग्रेजी-अनुवाद से—

A Droplet Suddenly Sprang

I saw
A droplet suddenly
Sprang off the sea surf
And was flushed

In the fire of the setting sun
It became evident to me
Each enlightened identity
Is deliverance
From the blemish of morality

और बताइए कि क्या अज्ञेय के सम्पूर्ण अनुवाद को केवल इसलिए प्रामाणिक मान लिया जाए कि यह स्वयं कवि ने किया है और अजित खुल्लर के सम्पूर्ण अनुवाद को सिर्फ इसलिए कमतर मान लिया जाए कि यह किसी और का अनुवाद है? मेरा बल सम्पूर्ण अनुवाद पर है। जो भी हो, इन दोनों अनुवादों की तुलना से इस बात का अन्दाज़ा तो लग ही जाता है कि किसी सृजनात्मक कृति के अनुवाद में आस्वाद की कितनी सूक्ष्म और जटिल भूमिका रहती है।

प्रसाद का औपन्यासिक चरित्रचित्रण

प्रसाद मूलतः कवि थे—स्वभाव से ही स्वच्छन्द और उन्मुक्त। उनके अन्य रूप आनुषंगिक हैं। इसलिए उनकी कृतियों को, वे चाहे किसी भी विधा में हों, उनकी काव्य-कृतियों के सन्दर्भ में ही ठीक ठीक समझा जा सकता है। जीवन के कठोर सत्य की अनुभूति और तज्जनित मार्मिक व्यथा जो पहली बार उनकी काव्य-कृति 'झरना' में झलकी और उत्तरोत्तर बल पकड़ती हुई 'आँसू' और 'कामायनी' में अपनी चरम सीमा को छू गई, उसकी कसक उनके सभी उपन्यासों में व्याप्त है। प्रसाद के तीन उपन्यास हैं, दो पूरे—'कंकाल' और 'तितली' तथा तीसरा 'इरावती' जिसे वे अधूरा ही छोड़ गए।

कंकाल' उनका अन्य कृतियों से भिन्न, कोई असफल प्रयोग नहीं—जैसा कि कभी-कभी लोग कह देते हैं, बल्कि उनके जीवन दर्शनानुसार मानव कल्याण के उद्धार की ओर पहला कदम है। इसमें उनकी व्यक्तिवादी विचारधारा उभर कर सामने आती है। जीवन की तिक्त अनुभूतियों ने समाज के प्रति प्रसाद के विश्वास को झंझोडकर उन्हें व्यक्तिवादी बना दिया था। धर्म और समाज की प्रचलित मान्यताओं, उसके निर्धारित मूल्यों तथा विधि निषेधों के प्रति उन्हें घोर अनास्था हो गई थी—"जिन्हें आवश्यकता नहीं, उन्हें बिठाकर आदर से भोजन कराया जाए जिन्हें पेट ने सता रखा है जिनको भूख ने अधमरा बना दिया है वे मनुष्य कुत्तों के साथ जूठी पत्तलों के लिए लडें, यही तो तुम्हारे धर्म का उदाहरण है।" उन्हें विश्वास हो गया था कि अपनी रूढिवादी धारणा के वशीभूत समाज जिस वर्ग को उच्च, मान्य और आदर्श समझकर प्रतिष्ठित किए हुए है वह सच्ची मनुष्यता से कोसों दूर है और अपने पूर्वाग्रह के कारण वह जिसे गला-सडा और निकृष्ट समझकर बहिष्कृत किए हुए है, उसमें अभी मनुष्यता शेष है। 'कंकाल' का निरंजन स्वीकार करता है—'किशोरी, मैंने खोजकर देखा कि मैंने जिसे सबसे बडा अपराधी समझा था वही सबसे अधिक पवित्र है।' अपने इसी विश्वास को व्यक्त कर छिन्नाधार संघर्ष-पीडित मानव-प्राणियों में स्वस्थ चेतना जगाने के लिए 'कंकाल' की रचना हुई। इसलिए

'कंकाल' का मुख्य विषय य मानव कंकाल बने। प्रेमचंद की कोरी उपदेशात्मकता को न अपनाकर प्रसाद ने व्यंग्यात्मक शैली से काम लिया और कथानक को ऐसा रूप दिया जिससे रूढ़िबद्ध जातीय प्रतिष्ठा की पोल खुले और साथ ही इस निष्कासित वर्ग के सतत संघर्षमय जीवन की कठोर यथार्थताओं के चित्रण द्वारा यह दिखाया जा सके कि उन्हें उनकी इस दशा तक पहुँचाने वाले उस तथा कथित उच्च वर्ग के स्वार्थपूर्ण कुकृत्य ही हैं।

इसके लिए प्रसाद को एक तो ऐसे पात्रों की आवश्यकता पड़ी जिनका अस्तित्व ही समाज-व्यवस्था के लिए भारी खतरा समझा जाता हो। विजय, तारा तथा मोहन जैसी जारज सन्तानें, यमुना की-सी अविवाहित माताएँ, गुलनार जैसी बाल वेश्याएँ, लतिका के समान धर्मच्युत स्त्रियाँ, घंटी की सी अनाथ कुल शील छोकरियाँ समाज की दृष्टि में घृणित समझे जाने वाले ऐसे ही मानव प्राणी हैं जो जीवन की कठोर यथार्थताओं से टकराकर गिरते-पड़ते असह्य नारकीय यातनाएँ भोगते रहते हैं और जिनकी आहों-कराहों के प्रति उदासीनता का भाव बनाए रखना समाज अपने लिए गौरव की बात समझता है। प्रसाद ने इन लोगों का इनके गुण-दोषों सहित चित्रण किया है, प्रेमचंद की भाँति इनमें कोरी आदर्शवादिता फूँकने का प्रयत्न नहीं किया। इस वर्ग की विवशताओं के प्रति प्रसाद की पूर्ण सहानुभूति होते हुए भी इसमें से कोई पुरुष पात्र धीरोदात्त नायक के रूप में विकसित न हो सका और न कोई स्त्री-पात्र सती-साध्वी नायिका के रूप में ही। लेखक ने उनके विकास में कृत्रिमता न लाकर उन्हें उनके स्वभाव और परिस्थितियों के अनुसार ही दुर्बल और ढुलमुल रहने दिया है। इसलिए वे प्रेमचंद की आदर्शवादी नायक-नायिकाओं की अपेक्षा अधिक सजीव और जीवन के अधिक निकट हो सके हैं।

दूसरी प्रकार के पात्र प्रसाद ने वे चुने जो अपनी योग्यता या गुणों के आधार पर नहीं, बल्कि प्रचलित समाज-व्यवस्था से अनुचित लाभ उठाकर समाज में सदा से उच्चासन ग्रहण किए हुए हैं और दीन हीन, असहाय प्राणियों का जोंक के समान रक्त शोषण करके उन्हें कंकाल बनाए जा रहे हैं। गुरुडम की आड़ में व्यभिचार फैलाने वाले धर्म के ठेकेदार मठाधीश-महन्त निरंजन, यंत्र मंत्र विद्या की धाक बढ़ाकर लड़की से लड़का बना सकने की दुहाई देने वाले ठाकुर रामदेव, परोपदेशपाण्डित्यम् के सिद्धांत वाले समाज-सुधारक व जाति सेवक मंगल, झूठे प्रेम जाल फैलाकर अबलाओं के धन और सतीत्व दोनों पर हाथ साफ करने वाले धनलोलुप श्रीचंद, अपनी कन्या की विवशतापूर्ण स्थिति समझे बिना उसके सतीत्व पर सन्देह करके उसके लिए समाज के द्वार बन्द कर देने वाले तारा के पिता इत्यादि का निर्माण इसी रूप में हुआ। यह दिखाने के लिए कि क्या हिन्दू, क्या मुसलमान और क्या ईसाई—सब के सब वासना की वेगवती

धारा मे वहे चले जा रहे है, लेखक को लतिका के पीछे पागल हुए फिरने वाले धार्मिक बिशप साहब, कला मूर्तियो के नाम पर कोमलागी मानव-मूर्तियो की टोह म रहने वाले बाथम साहब, सोने चादी के कुछ सिक्को की चमक दिखाकर अबला नारियो का, उनके कुलशील की चिंता किए बिना, सतीत्व नष्ट करनेवाल मिरजा जैसे कई पात्रो की अवतारणा हुई।

'ककाल' के पात्रो के भी 'शोषक' और 'शोषित' नाम मे दो भेद किए जा सकते हैं, पर प्रेमचद के औपन्यासिक पात्रो की भाति इस उपन्यास मे केवल आर्थिक शोषण को ही शोषण नही समझा गया। इसके कई शोषित पात्र आर्थिक दृष्टि से तो काफी सम्पन्न हैं। निरजन द्वारा जो शोषण हुआ वह आर्थिक शोषण न था, बल्कि वह नैतिक शोषण था। इसी प्रकार किशोरी, तारा और लतिका का क्रमश निरजन, मगलदेव और बाथम द्वारा जो शोषण हुआ वह आर्थिक शोषण नही कहा जा सकता। उपन्यास के नायक विजय की समस्या भी आर्थिक न थी। यदि वह समाज सम्मत रूढिबद्ध आचरण अपना लेता तो वह धनी मानी सेठ बनकर ऐश करता होता। पर क्योकि वह समाज के कृत्रिम सत्य का तिरस्कार करके व्यापक सत्य की खोज मे निकल पडा, समाज ने चिढकर उसके माग मे ऐसे काँटे बिछा दिए कि उसका स्वाभाविक विकास न हो पाया। वास्तव मे, ककाल की मूल समस्या ही यह है कि समाज सभी को अपने कठघरे मे बन्द करके व्यक्तित्वहीन बौने बनाए चला जा रहा है। यह बात ककाल के पात्रो को इसलिए भी खटकती है कि वे अनपढ ग्रामीण नही, आधुनिक युग के जागरूक नागरिक है।

प्राचीन भारतीय आदर्शों से विमुख होकर चमकीली पश्चिमी सभ्यता का अधानुकरण करने वालो को भारतीय व्यक्तिवादी साधना की जीवनोपयोगिता दिखाने के लिए तितली' की रचना हुई। 'तितली' का लक्ष्य ककाल के लक्ष्य स भिन्न नही। सस्थावाद की अनिवाय बुराइयो से व्यक्ति की रक्षा के महान् लक्ष्य की पूर्ति की ओर ककाल यदि पहला कदम है तो तितली दूसरा। ककाल द्वारा समाज के रूढिबद्ध जातीय दम्भ तथा कृत्रिम विधि निषेधो पर गहरा व्यग्य कसते हुए उसके प्रति जागरूकता जगाने के पश्चात व्यक्ति की शक्ति की अपरिमितता म दढ विश्वास पदा करन के लिए कठोर व्यक्तिगत साधना नितात आवश्यक थी। इसके लिए उन्हें एक ऐसे पात्र की जरूरत पडी जो सस्थावाद के आंधी-तूफानो के आगे पवत के समान अड जाए—गव के साथ अपना ललाट उन्नत किए, अपनी साधना मे मस्त। सदा स ही उस कसौटी पर खरी उतरती आन वाली भारतीय नारी के रूप म तितली की अवतारणा हुई, जिसम नारी और सतीत्व का प्राचीन भारतीय आदश मूत हो उठा। तुलना द्वारा इसका महत्त्व दिखाने के लिए पश्चिमी सभ्यता मे पली अग्रेज महिला शैली की रचना हुई, जा

भारतीय सिद्धांतों को स्वीकार कर लेने पर भी उस बड़ी साधना में न टिक सकी। इन दोनों के साथ ही सृष्टि हुई समाज की रूढ़िवादिता से आक्रांत उस वर्ग की, जिसमें अनपढ़-अक्खड़ ग्रामीण मधुवन से लेकर बैरिस्टर-जमींदार इंद्रदेव तक सभी सत्तावाद की चक्की में पिसे चले जा रहे हैं।

तितली में भी शोषितों की एक लम्बी लिस्ट है। मधुवन, तितली, इंद्रदेव और शैली के अतिरिक्त बाल विधवा राजकुमारी, बेटे-बेटी की चिंता में फंसी विधवा माता श्यामदुलारी, व्यसनी पति द्वारा चिरापेक्षिता बीबी माधुरी, कानून और धर्म के ठेकेदारों के अत्याचारों से सताए हुए देवनन्दन, माधो रामजस आदि असंख्य किसान, दूसरों की गृह-कलह का कुफल भोगने वाला निरपराधी नौकर रामदीन आदि कितने ही असहाय निरुपाय लोग बिलखते दिखाई देते हैं। 'तितली' में दूसरा वर्ग बना उन पात्रों का जो औरों की कमजोरियों से लाभ उठाकर उन्हें एक दूसरे के विरुद्ध उकसाते लड़ाते भिड़ाते हुए अपना उल्लू सीधा करते रहते हैं। कानून को हाथ में लेकर मनमानी करने वाला तहसीलदार, गृह कलह कराकर अपना काम निकालने वाला धूर्त ब्राह्मण सुखदेव चौबे, धर्म का ठेकेदार पाखंडी महन्त, लेडी डाक्टर के वेश में दूसरों के पतियों को हथियाने वाली अनवरी, चांदी के टुकड़ों पर जान देने वाली वेश्या मैना आदि सत्तावाद के गन्दे जल से उत्पन्न ऐसी जोंकें हैं जो मानव का समूचा रक्त चूसकर उसे ठठरी बना देती हैं।

समाज के बंधनों से व्यक्ति की आत्मा को मुक्त कराने की ओर इरावती तीसरा कदम है। मँझधार में फँसी समाज की नौका को किनारे लगाने के लिए साधना के चप्पू की आवश्यकता 'तितली' में स्वीकार कर लेने के बाद प्रसाद उस साधना का आन्दोलन संगठित करने की चेष्टा में इतिहास के अनुशीलन में प्रवृत्त हुए। उन्हें विश्वास था कि "हमें गिरी दशा से उठाने के लिए हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है उससे बढ़कर और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल नहीं हो सकता।"[1] प्रसाद ने 'इरावती' में बौद्ध धर्म के पतन काल के चित्रण द्वारा यह दिखाने के लिए लेखनी उठाई कि "किस प्रकार समाज को सुंदर बनाने के लोभ में (सुधार द्वारा) भगवान् तथागत द्वारा निर्दिष्ट श्रेष्ठ पथ को रूढ़ियों में बाँध देने में बनता-बनता चित्र बिगड़ गया। हमारी अहिंसा हमारी हिंसा करने लगी, हमारा प्रेम हमीं से द्वेष करने लगा और धर्म पाप बनता गया।"[2] इस उपन्यास के लिए एक ओर तो चुनाव हुआ सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक रूढ़ियों में अधभक्ता का। जीवन में आनन्दवाद को सर्वोच्च स्थान

1 प्रसाद 'विशाख' की भूमिका, प्रथम संस्करण सन् 1921

2 प्रसाद 'इरावती' के आरम्भ में प्रकाशित 'प्रसाद का वक्तव्य'।

देते हुए उसकी साधना मे सब कुछ बँध समझने वाला महाकाल के मन्दिर का ब्रह्मचारी तथा उसके शिष्य, मानव-जीवन मे से आनन्द की भावना को उखाडकर उसके स्थान मे कारुण्य की स्थापना करने के प्रयास मे मनुष्य को यन्त्रचालित कठ-पुतली बना डालने वाले भिक्षुणी विहार के असख्य अधिकारी, जरा-जजरित राज्य-व्यवस्था का अधभक्त पुष्यमित्र इत्यादि इसी वग के पात्र हैं। दूसरी ओर सृष्टि हुई अग्निमित्र और इरावती जैसे पात्रो की जो इन अधभक्तो के विकृत धम और राजनीति का निरतर शिकार बनते आए हं। सस्थावाद द्वारा उत्पन्न लोगो की विवशताओ से लाभ उठाकर स्वाथ साधने वालो का तीसरा वग है, जिसमे मगधराज बृहस्पति मित्र अग्रगण्य है। इनके अतिरिक्त एक स्वस्तिक दल है विद्रोहियो का जो बेजुबा पशुओ की भाति चुपचाप अत्याचार नही सहता और राज्य-व्यवस्था को उलटने के लिए नित्य नये षड्यन्त्र रचता रहता है। 'इरावती मे ऐतिहासिक और कल्पित दोनो प्रकार के पात्र है। पुष्यमित्र, अग्निमित्र, और खारवेल ऐतिहासिक पात्र है और कालिन्दी, इरावती, धनदत्त, मणिमाला आदि कल्पित।

इस प्रकार प्रसाद न विलासी राजाओ, स्वामिभक्त मन्त्रियो तथा सना-नायको, धम के ठेकेदार महता, ब्रह्मचारियो, बौद्ध भिक्षु भिक्षुणियो, पादरियो, समाज के गण्यमान्य नवाबो, रईसो, सेठो, समाज-सुधारको प्रचारको आदि स लेकर समाज के घणित उच्छृखल लोगो, वेश्याओ, जाज सताना, कुवारी माताओ, कुवारे पिताओ, चोर उचक्के, गुण्डो डाकुओ आदि तक सभी को अपन उपन्यासो के पात्रो के रूप म चुना। यद्यपि उनका चुनाव क्षेत्र उतना व्यापक न था जितना कि प्रेमचद का, तो भी इसमे अतिशयोक्ति नही कि जिन भी पात्रो को उन्होने चुना उनके बारे मे उन्हे पूरी जानकारी थी। उन्होन अपन पात्र प्रधानतया उच्च और निम्न वग म से चुन और वे भी नगर निवासियो या नगरो स सटे हुए ग्रामो के निवासियो म से, मध्यवग के प्रति उनकी विशेष रुचि न थी। इन दोनो वर्गों की कठिनाइया और उनकी समस्याओ के वास्तविक स्वरूप से उनका परिचय घनिष्ठ था, विशेषत उच्चवग की खोखली आदशवादिता तथा उसके जातीय दम्भ से। इसीलिए वह उन पर तीखे व्यग कस सके तथा उनकी पोल खोल सके।

प्रसाद उच्च वग का चित्रण कर रहे हो या निम्न वग का, उनकी विशेष सहानुभूति सदा चिरोपेक्षित-चिरशापित नारी जाति स ही रही है क्योकि वह जानते थे कि सस्थावाद के अनिवाय अत्याचारो का शिकार सबस अधिक नारी ही होती रही है। बेचारी तारा, घटी, तितली, मलिया राजकुमारी इरावती आदि की तो हस्ती ही क्या किशोरी, चदा, श्यामदुलारी, माधुरी इत्यादि आर्थिक रूप से सम्पन्न नारियाँ भी शोषण से न बच पाईं। पुरुष निर्मित

समाज मे नारी भला बची भी कैसे रह सकती है। पर भारतीय नारी तो अमर है। दोषपूर्ण समाज-व्यवस्था द्वारा उत्पन्न विपरीत परिस्थितियो के आंधी-तूफानो म भी पवत के समान अडी-खडी रहने वाली नारी की मूक वेदना का चित्रण करते-करते प्रसाद की लेखनी बल पकडती जाती है और उनकी कला म उत्तरोत्तर निखार आता जाता है। पुरुष द्वारा शोषित रहने पर भी उसकी सच्ची सहायिका सिद्ध होने वाली नारी के चित्रण मे प्रसाद प्रसाद ही है—कवि नाटककार, उपन्यासकार, कहानीकार आदि किसी भी रूप म। तितली और यमुना (तारा) उनके उपन्यासो की अमर नायिकाएँ ह। इरावती भी अमर बन गई होती यदि उसे अधूरा न छोड जाते।

प्रेमचद की भाति प्रसाद भी साहित्य मे आशा रखते थे कि वह समाज की वास्तविक स्थिति दिखाते हुए उसमे आदशवाद का सामजस्य स्थिर करे। दुख-दग्ध जगत की कठोर यथार्थताओ तथा आनन्दपूण स्वग के मधुर स्वप्नो का अभिव्यक्त करने के लिए भी कदाचित वह प्रेमचद स कम अधीर नही थे, पर इसके बावजूद उन्होंने अपने उपन्यासो मे प्रवक्ता के रूप मे प्रकट होकर अपनी मान्यताएँ लादने का प्रयत्न नही किया। व मानते थ कि 'सिद्धात म ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्त्ता बन जाता है और यथार्थवादी सिद्धात से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नही ठहरता किंतु साहित्यकार न तो इतिहासकर्ता है और न धमशास्त्र प्रणेता साहित्य इन दोनो की कमी को पूरा करने का काम करता है।'[1] इसीलिए उनके उपन्यासो म लम्बी लम्बी टीका टिप्पणियाँ नही मिलती। एक कुशल नाटककार के समान—कुशल नाटककार तो प्रसाद थे ही—अपने को अलग रखते हुए वे अपनी धारणाओ और मान्यताओ को किसी एक या अनेक पात्रो के जीवन-दशन मे ही घुला मिला देते थ और धीरे धीरे उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाओ अथवा कथोपकथनो आदि के माध्यम से व्यक्त कराते रहते थे।

'कंकाल' मे वे क्रमश तारा विजय और गोस्वामी कृष्णशरण के मुख से अपने जीवन-दशन की अभिव्यक्ति कराते रहे। तितली' मे पहले तो वे रामनाथ की वाणी मे बोलते रहे और उसकी मृत्यु के बाद उन्होंने तितली का अपना माध्यम बनाया। इरावती मे ब्रह्मचारी, इरावती और अग्निमित्र के मुख स बोलते रह। इस प्रकार नाट्य शली को अपनाने स एक तो उनके उपन्यासो क कथानक गतिशील रहे दूसरे उनके पात्रो का चरित्र विकास कभी रुकता हुआ नही दिखाई दिया और न उनके उपन्यासो म सदा देने वाली उपदेशात्मकता ही घुस पाई।

'तितली' म अवश्य वे दो एक बार अपनी कुछ एक स्थापनाएँ दे देते हैं जो

---

1 प्रसाद यथार्थवाद और छायावाद' काव्यकला और अन्य निबन्ध सं० 20। पृ० 88 89

उनके पात्रो के भावी चरित्र विकास का आधार बनती हैं। चतुथ खड के आरम्भ मे वह लिखते है—"ससार मे अपराध करके प्राय मनुष्य अपराधा को छिपाने की नित्य चेष्टा करते हैं। जब अपराध नही छिपते तब उन्हे ही छिपना पडता है और अपराधी ससार उनकी इस दशा से सन्तुष्ट होकर अपने नियमो की कडाई की प्रशसा करता है। वह बहुत दिना से सचेष्ट है कि ससार से अपराध उन्मूलित हो जाएँ। परन्तु अपनी चेष्टाओ से वह नये-नये अपराधो की सष्टि करता जा रहा है।" यह मधुवन के कलकत्ता भागकर कोयला ढोने के काम पर लग जाने और बाद म वहा से भी लडकर चम्पत होकर बीरू बाबू की गुण्डा मडली मे मिल जाने का प्रसग है। इसी प्रकार जीवन की कठोर यथार्थताओं से टकराकर बीबी माधुरी के अभिमान के चकनाचूर होने पर उनके शैला के प्रति स्नेहार्द्र होने के सदर्भ मे प्रसाद अपनी एक और स्थापना रख देते है "मानव हृदय की मौलिक भावना है स्नेह। कभी-कभी स्वार्थ की ठोकर से पशुत्व की, विरोधी की, प्रधानता हो जाती है पर प्रेम, मित्रता की भूखी मानवता! बराबर बारम्बार अपने को ठगाकर भी वह उसी के लिए झगडा करती है। झगडती है, इसलिए प्रेम करती है।"[1]

मानव चरित्र एक हिमनग (आईसबग) के समान है जिसका थोडा-सा ही उसकी व्यक्त चेष्टाओ मे प्रतिबिम्बित हो पाता है और शेष अव्यक्त रहकर उसके व्यक्त आचरण को प्रेरित करता रहता है। इसलिए उस प्रेरक, पर अव्यक्त, चरित्र को जाने बिना मनुष्य के व्यक्त आचरण का मूल्याकन भ्रामक हो सकता है। मानव जीवन का यही एक रहस्य है जिसके कारण प्रत्येक मनुष्य दूसरा के लिए, अनेक बार अपने लिए भी, पहली बना रहता है। पर वस्तुजगत की यह पहेली उपन्यासजगत् मे सुलझ जाती है। अपने पात्रो का स्रष्टा होने के नाते उपन्यासकार उनका अन्तर्यामी तो होता ही है, उनका व्यक्ताव्यक्त आचरण चित्रित करने के लिए उसे वणनात्मक तथा नाटकीय दोनो प्रकार की प्रणालियो के प्रयोग की स्वतत्रता भी रहती है। नाटकीय प्रणाली द्वारा वह अपने पात्रा के व्यक्त आचरण मे प्रतिबिम्बित होने वाले उनके चरित्र को अभिव्यक्त करता है और विश्लेषणात्मक प्रणाली द्वारा उनके अव्यक्त चरित्र का चित्रण करता है, जो उनकी क्रिया प्रतिक्रियाओ से न तो व्यक्त हो पाता है और न ध्वनित ही।

इस प्रकार वस्तुजगत् मे मानव-चरित्र का जो अश अव्यक्त रहता है, उपन्यास मे वह विश्लेषणात्मक प्रणाली द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। अतएव सशक्त वणन प्रणाली के अतिरिक्त उपन्यासकार की विश्लेषणात्मक प्रणाली की ओर जितनी अधिक प्रवृत्ति होगी, उतना स्पष्ट और सुसगत होगा

1 प्रसाद तितली पृष्ठ 234 व 272

उसके पात्रों का चरित्र चित्रण। जयशंकर प्रसाद के वर्णनों में मूर्तिमत्ता की अपूर्व योजना होने से उनके पात्रों का रंग-रूप हमारे मानसपटल पर एक अमिट छाप छोड़ जाता है। पर पात्रों के मनोविश्लेषण की ओर न प्रवृत्त होने के फलस्वरूप उनके कई पात्र पहेली बनकर रह जाते हैं और उनकी कई क्रिया प्रतिक्रियाओं में संगति बैठाना कठिन हो जाता है। पात्रों के चरित्र विकास की ऐसी अवस्थाओं में, जहां उनसे आशा की जा सकती थी कि वे उनकी तात्क्षणिक मन स्थिति का विश्लेषण करते हुए मन में उठ रही परस्पर विरोधी तरंगों द्वारा उत्पन्न संघर्ष का चित्रण करते, वह इसमें न उलझ कर नाटकीय या काव्यात्मक प्रणाली द्वारा उस संघर्ष की ओर संकेत भर करके आगे बढ़ जाते हैं। प्रेमचन्द के समान प्रसाद भी ऐसे स्थलों के प्रति पूर्ण न्याय नहीं कर सके हैं। प्रेमचन्द निजी टीका टिप्पणी द्वारा अपने विचारों को प्रकट करने का मोह न संवरण कर सके और प्रसाद का रुझान नाटककार होने के नाते नाटकीय शैली की ओर अधिक रहा। जब कभी वे मनोविश्लेषण की ओर प्रवृत्त हुए भी उनके पात्रों ने उनकी एकाग्रता भंग कर दी, और पात्रों के चरित्र की जो गुत्थियां विश्लेषणात्मक प्रणाली से ही सुलझाई जा सकती थी, उनके लिए भी प्रसाद को नाटकीय प्रणाली का आश्रय लेना पड़ा।

कंकाल' के चतुर्थ खण्ड के आरम्भ में 'आलोक प्रार्थिनी यमुना, अपनी कुटीर में दीपक बुझाकर' बैठी, उसने 'आंखें भी बन्द कर ली', उसके जीवन की अनंत रजनी उसके चारों ओर घिरी थी', पाठक भी हृदय थामकर बैठ गया कि लेखक अब उसकी मन स्थिति का विश्लेषण करेगा। पर, दुर्भाग्य से, 'लतिका ने जाकर यमुना का द्वार खटखटा दिया' और सारी एकाग्रता जाती रही। इसी प्रकार, सुखदेव चौबे के लिए जलपान का प्रबन्ध करने के प्रयत्न में 'तितली' की राजकुमारी अपनी निराश और अभिमयी आखों को घुमाकर जिधर ही ले जाती थी, अभाव का खोखला मुंह विकृत रूप से परिचय देकर जैसे उसकी हंसी उड़ाने के लिए मौन हो जाता। वह पागल होकर बोली यह भी कोई जीवन है। यह पढ़कर पाठक आशा करने लगता है कि अब लेखक पात्र के मन में गोता लगाएगा, शायद वह लगाता भी, पर तभी 'क्या है भाभी ! मैं आ गया !' कहते हुए चौबे ने घर में प्रवेश किया और राजकुमारी को अपने मन के कपाट बंद करके बहिर्मुखी होना पड़ा।

इसी प्रकार के अनेक स्थल प्रसाद के उपन्यासों में मिलते हैं जहां उन्होंने मनोविश्लेषण के लिए उपकरण तो जुटाए, पर ठीक मौके पर उनका पूरा उपयोग करने से अपना हाथ खींच लिया। इलाचन्द्र जोशी का यह कथन सही है कि 'जो कवि कामायनी में मनु के भीषण अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण में आश्चर्यजनक रूप से सफल रहा है, उसकी अन्तर्भाव विश्लेषणी प्रतिभा पर सन्देह नहीं किया जा

सकता। फिर भी आश्चर्य ही है कि कंकाल का कोई भी पात्र उन्हें मनोविश्लेषण के योग्य नहीं जँचा, कोई भी परिस्थिति गम्भीर वातावरण उत्पन्न करने योग्य मालूम नहीं हुई।'[1]

इस कमी को पूरा करने के लिए प्रसाद ने डायरी को माध्यम बनाया। तितली में इन्द्रदेव की मनोव्यथा का चित्रण प्रसाद ने डायरी द्वारा किया है। इन्द्रदेव एक अन्तर्मुखी पात्र है। 'ऊपर से शीतकाल की नदी के जमे हुए जल की कठोरता धारण किए रहने पर भी उसके भीतर का तरल जल ठाठें मारता रहता है।'[2] वह अपने परिपार्श्व के प्रति उदासीन हो, यह बात नहीं। अपने आसपास के षडयन्त्रपूर्ण वातावरण के प्रति वह जागरूक है, अपने को दूसरों के विरोध का लक्ष्य बना पाकर उसके मन में प्रतिक्रिया भी प्रबल हो उठती है पर जीवन के प्रति उसके ढुलमुल दृष्टिकोण द्वारा उत्पन्न उसकी पलायनवृत्ति बाहर के संघर्ष को उसके भीतर समेट लाती है। उसे संसार में कोई भी ऐसा नहीं दीखता जिसे विश्वास-पात्र मानकर वह अपना दिल खोल सके। वह भीतर ही भीतर घुलता रहता है—अपने वातावरण से घिरा हुआ बेबस—खोया-खोया सा। ऐसी स्थिति में यदि वह डायरी के पन्नों पर अपनी मनोव्यथा उँडेलकर हल्का न हो जाता तो पागल हो गया होता। उन्माद का पूर्व लक्षण विस्मरण तो उसमें प्रकट हो ही गया था।

इन्द्रदेव की यह डायरी उसके हृदय का दर्पण है, जिसमें उसके मन पर पड़े हुए वे सभी संस्कार जो शैला तितली और अनवरी के बारे में उसकी मानसिक हलचल का कारण बने थे और जिन्हें वह अनौचित्य के भय से शायद कभी भी प्रकट न कर पाता, प्रतिबिम्बित हुए दीखते हैं।

"वह तितली बन कर मेरे हृदय में शैला नहीं बनी रहेगी। तब तो उस दिन तितली को ही जैसा मैंने देखा वह कम सुन्दर न थी।"

" मैं स्वीकार करता हूँ कि संसार की कुटिलता मुझे अपना साथी बना रही है। वह मित्र भाव तो शैला का साथ न छोड़ेगा। किन्तु मेरी निष्कपट भावना जैसे मुझसे खो गई है। मुझे सन्देह होने लगा है कि मैं शैला को वैसा ही प्यार करता हूँ, या नहीं।'

इन्द्रदेव यदि डायरी न लिखता तो उसके हृदय में हो रहे इन परिवर्तनों का पता न चल पाता और यह कभी प्रकाश में ही न आता कि प्रेम के क्षेत्र में भी वह उतना ही ढुलमुल है जितना दुनियादारी में।

डायरी अपने श्रेष्ठ रूप में लेखक-पात्र के अपने शब्दों में लिपिबद्ध उसका

---

1 इलाचन्द्र जोशी प्रसाद का कथा-साहित्य और कंकाल कल्पना फरवरी 1951

2 प्रसाद तितली पृ 121

चेतनाप्रवाह (स्ट्रीम आफ कान्शसनेस) भी हो सकती है। पर उपन्यास के लिए यह विश्लेषणात्मक प्रणाली द्वारा अभिव्यक्त पात्र के चेतनाप्रवाह से कहीं अधिक उपयोगी होती है। पात्र के चेतनाप्रवाह का प्रभाव, उसके मन की चार दीवारी में सीमित रहने से, किसी अन्य पात्र पर नहीं पड़ सकता। पर डायरी जहाँ एक ओर लेखक-पात्र के विकास पर प्रकाश डालती है वहाँ वह जिस किसी अन्य पात्र के हाथ में पड़ जाए उसके भावी आचरण को भी प्रभावित कर सकता है। इन्द्रदेव का इन शब्दों के साथ—"तो तुमने पढ़ लिया ? अच्छा ही हुआ"—डायरी को फाड़ डालना और फिर कभी डायरी लिखने का नाम न लेना एक स्पष्ट संकेत है कि कदाचित् मन्ना तक अपनी मनोव्यथा पहुँचाने के लिए उसे यही एक उपाय सूझा हो। किसी और तरह से शैला के सम्मुख अपना दिल खोल सकने की हिम्मत तो उसमें थी नहीं।

प्रसाद ने पत्रों द्वारा पात्रों के चरित्रोद्घाटन की शैली को भी अपनाया है। 'कंकाल' के अन्त में निरंजन का किशोरी को लिखा पत्र उपन्यास के कथानक की बिखरी हुई कड़ियों को ही नहीं जोड़ता, निरंजन, किशोरी तथा यमुना के चरित्र-विकास की कई गुत्थियों को भी खोलने में सहायक होता है और साथ ही उसके लेखक निरंजन की तत्कालीन विकासावस्था को भी चित्रित कर देता है। निरंजन लिखता है "मैंने उसकी (यमुना की) सहायता करनी चाही और लगा था कि निकट भविष्य में उसकी सांसारिक स्थिति सुधार दूँ इसलिए मैं भारत संघ में लगा, सार्वजनिक कामों में सहयोग करने लगा।"[1] विजय के प्रति निरंजन का ममत्व तो समझ में आ सकता है, पर यमुना के प्रति उसके पहले कठोर व्यवहार को देखते हुए यह तब तक समझ में नहीं आता कि उसके प्रति उसे इतनी ममता कैसे हो गई, जब तक पाठक निरंजन के पत्र की इन पंक्तियों तक नहीं पहुँचता 'मैं सोचता हूँ कि मैंने अपने दोनों को खो दिया। अपने दोनों पर तुम हँसोगी, किन्तु वे चाहे मेरे न हों तब भी मुझे ऐसी ही शंका हो रही है कि तारा की माता रामा से मेरा अवैध सम्बन्ध अपने को अलग नहीं रख सकता।'[2]

इतना ज्ञानवान और संयमशील होकर भी निरंजन को अपने भ्रष्टाचरण से घृणा क्यों नहीं हुई, इसका उत्तर भी निरंजन स्वयं देता है कि वह अपने प्रत्येक कुकृत्य का मनोविज्ञान के शब्दों में, युक्तीकरण (रेशनलाइजेशन) कर लिया करता था, अपने मन में उसे उचित सिद्ध कर लिया करता। 'पवित्र होने के लिए मेरे पास एक सिद्धांत था। मैं समझता था कि धर्म से, ईश्वर से, केवल हृदय का सम्बन्ध है, कुछ क्षणों तक उसकी मानसिक उपासना कर लेने पर वह मिल जाता है। इन्द्रियों से वासनाओं से उनका कोई सम्बन्ध नहीं।' यमुना का

---

1 प्रसाद कंकाल पृ० 290

2 वही।

उल्लेख करते हुए वह जहाँ अपनी भूल स्वीकार करता है वहा यमुना के चरित्र की उज्ज्वलता का भी बखान किए बिना नही रहता "किशोरी! मैंने खोज कर देखा कि मैंने जिसको सबसे बडा अपराधी समझा था, वही सबसे अधिक पवित्र है।" निरजन के चरित्र विकास मे, जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण म, ससार की तिक्तानुभूतियो ने जो एक महान् परिवतन ला दिया था उसकी व्यजना भी उसके पत्र द्वारा हुई है "न्याय और दण्ड देने का ढकोसला तो मनुष्य भी कर सकता है। पर क्षमा म भगवान की शक्ति है। सबके क्षमा के लिए वह महाप्रलय करता है उसी महाप्रलय की आशा मे मैं किसी निजन कोने मे जाता हूँ, बस बस !"

वास्तव मे प्रसाद की रुचि चरित्र-चित्रण की नाटकीय प्रणाली मे ही थी। पर सवाद कितने ही सफल हो, है तो वे सवाद ही। पात्र की तत्कालीन मन -स्थिति की वे आशिक अभिव्यक्ति ही कर सकते हैं। नाटक मे, नाटककार की मजबूरी देखते हुए, इतने से ही सतोष किया जा सकता है, पर उपन्यासकार से तो यहा तक भी आशा रखी जा सकती है कि वह पात्रो के मानसिक द्वन्द्वो की शतप्रतिशत अभिव्यक्ति करा दे। मँजे हुए नाटककार होने के कारण प्रसाद इन सवादो द्वारा पात्रो के विकास की विभिन्न अवस्थाओ की झाकी दिखा सकने म भले ही सफल हुए हो, पर उपन्यास के लिए यह पर्याप्त नही। उपन्यास की वास्तविक समस्या तो पात्रो के चरित्र का क्रमिक विकास दिखाना है। उसे तो यह भी चित्रित करना होता है कि उसके पात्र चरित्र विकास की एक अवस्था मे दूसरी अवस्था तक क्यो, कब और कैसे पहुँचे।

पात्रो के चरित्र विकास मे क्या, कब और कैसे का उत्तर देना अकेले नाटकीय प्रणाली की सामर्थ्य से बाहर है। यह तो विश्लेषणात्मक प्रणाली के बूते का ही काम है। पर क्योकि प्रसाद का रुझान नाटकीय प्रणाली की ओर ही अधिक रहा और विश्लेषणात्मक प्रणाली को तो उन्होने छुआ ही, इसलिए यदि वह अपने पात्रो के भीतरी मनोभावो की तीव्रता, उनके भीतर उठने वाले तूफानो और विद्रोही भावनाओ के चित्रण मे असफल रहे हो तो इसे नाटकीय शैली की असफलता ही समझना चाहिए। प्रसाद यदि नाटकीय तथा विश्लेषणात्मक प्रणालियो मे सामजस्य बठा लेते, जो उन-जैसे प्रतिभा-सम्पन्न लेखक के लिए कठिन नही था, तो उनके पात्रो का चरित्र चित्रण अनुपम होता।

'जयवर्धन' की मनोवैज्ञानिकता

जैनेन्द्र का उपन्यास 'जयवर्धन' उनके अन्य सभी उपन्यासों में भिन्न एक अनूठा प्रयोग है पर यह अनूठापन जितना शैली का है उतना कथ्य का नहीं। समूचा उपन्यास विदेशी संवाददाता विलबर हूस्टन की डायरी के रूप में है। हूस्टन डेढ़-दो महीने के लिए भारत आया है और इस अल्पावधि में राज्य के शीर्षस्थ व्यक्ति जयवर्धन को समूचा पा लेना चाहता है। सरसरी नजर से देखने पर इस रचना के राजनीतिक उपन्यास होने का भ्रम होता है, पर जैनेन्द्र के अन्य उपन्यासों की भांति यह भी मूलतः एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास है जिसमें कथानायक जयवर्धन बाह्याभ्यन्तर के विवेचन विश्लेषण द्वारा उसके जटिल व्यक्तित्व को समझने की चेष्टा करता है और यह चेष्टा करता है हूस्टन जिसे उपन्यास में संवाददाता कहा गया है, पर वह अपने को जीवन का विद्यार्थी मानता है और जयवर्धन के 'निजत्व' को पाने के लिए मनोविश्लेषण की अधुनातन तकनीकों का सहारा लेता है। वह आरम्भ में ही अपने मन्तव्य को जयवर्धन पर प्रकट कर देता है "मुझे आपका कर्म विवरण नहीं चाहिए। वह तो उजागर है ही। आया हूं तो अन्तरंग लेने आया हूं।"[1] जयवर्धन और इला भी उसे इसी रूप में स्वीकार करते हैं। उसे संवाददाता मानते तो वे उससे बचने की भरसक चेष्टा करते पर इस भाव में दोनों उसे पूरा सहयोग देते हैं। जयवर्धन उसे आश्वस्त करते हुए कहता है 'मैंने इला से कहा है कि तुम यानी हूस्टन बाहरी नहीं हो। सत्य की खोज में हो, इसलिए एक तरह अपने हो। इला कहीं रोक न पैदा करेगी। मेरे पास कुछ छिपा नहीं है सब खुला है।' (पृ० 105)

क्रायडवादी मनोविश्लेषकों का विश्वास है कि बाल्यावस्था के दुःखद संघर्ष, जो बिना सुलझे ही दमित होकर अवचेतन में धंस जाते हैं, वे व्यक्ति के आचार-विचार को निरन्तर प्रभावित करते रहते हैं और उसके भीतर अविरत तनावों को जन्म देकर किसी भी व्यक्ति अथवा स्थिति से उसका मानसिक संतुलन नहीं

---

1 जैनेन्द्र जयवर्धन संस्करण 1956 ई० पृ० 23

बैठन दत।[1] उन्ही दु खद अनुभूतियो को, जो दमितावस्था मे उसकी अधिकाश परेशानियो का कारण बनती हैं, पात्र के अवचेतन मे निकालकर चेतन मे ले आना और उनके निराकरण मे उसकी सहायता करना मनोविश्लेपण का चरमोद्देश्य है।[2] फ्रायड और उसके अनुयायियो का विश्वास है कि व्यक्ति जब तक अपनी परेशानिया के अवचेतन प्रेरका का नहीं जानेगा, तब तक वह उनसे मुक्त न हो पाएगा। पात्र के अवचेतन की परत पर-परत खोलने के लिए मनोविश्लेपक मुख्यत मुक्त साहचय (फ्री एसोसिएशन) और स्वप्न विश्लेपण (ड्रीम ऐनेलेसिस) प्रणालियो का प्रयोग करता है। जयवधन और इला के जीवन-सूत्रो के एक दूसरे से निरन्तर उलझते-सुलझत रहने के कारण उनके भीतर अवचेतन मे जा गाठें पड गई हैं, उनके वास्तविक स्वरूप को प्रकाश मे लाने के लिए जैनन्द्र न 'जयवर्धन' मे मुख्य रूप से मुक्त साहचय तकनीक का सहारा लिया है। मनोविश्लेपक की तरह वे अपने पात्रा को स्वस्थ करने के लिए उन पर इन तकनीको का प्रयोग नहीं करते, बल्कि इनका उद्देश्य रहा है पात्रो के अवचेतन मे गहरे दबे दु खद सघर्षों को मन की अँधेरी गुफाओ से निकाल लाना और फिर उनके अटपटे आचार-विचार और क्रिया प्रतिक्रिया के गूढ प्रेरको मे काय कारण शृखला ढूढना जिससे कि उन पात्रो की अपसामान्यता समझ मे आ सके।

मुक्त साहचय की स्थिति मे लाने के लिए पात्र को आराम से लेटने के लिए कहा जाता है और उससे अपेक्षा की जाती है कि वह अपने मन को खुला छोड दे और खूब भटकने दे। फिर उससे कहा जाता है कि उसके मन मे जो कुछ भी आ रहा हो उसे बताता जाए—मानो वह एक रेलगाडी म सफर कर रहा है और खिडकी मे बठा है तथा उसकी आखो के सामने से जो कुछ भी गुजर रहा है उस अपने पीछे बठे साथी को ज्यो का त्यो बता रहा है, कुछ छोडे अथवा जोडे बिना। इस प्रकार व्यक्ति युक्तियुक्त विचार के बोझ से मुक्त हो जाता है, और उसके अवचेतन म धँसी क्षोभकारी सामग्री अतीत की उन घटनाओ की स्मृतिया का रूप धारण करके चेतन मे आने लगती है जो उसकी मानसिक परेशानियो

1 Ruch 'Psychology and Life, p 527 28
The conflict, though unconscious continues to influence the individual s thought feeling and behaviour and is the cause of his emotional tensions and inability to adjust

2 Freud New Indroductory Lectures on Psycho-analysis' Norton New York, 1933, p 112
'Pyscho-analysis aims primarily at the reclamation of the Id by the Ego'

का मूल कारण है।[1] इसी सामग्री म उसकी मनोवैज्ञानिक कठिनाइयो से सम्बधित गहरा आतरिक अथ रहता है। यह प्रणाली व्यक्ति को आरोपित अथ से मुक्त करा देती है ताकि वह गहरा अथ, जिसका सम्बध उसकी अतप्त महत्त्वाकाक्षाओ से होता है, प्रकाश मे आ जाए।[2] इस तकनीक म पात्र से अपेक्षा की जाती है कि उस समय उसके मन मे जो कुछ भी आ रहा हो (भाव, विचार, इच्छा द्वद्व शारीरिक सवेदना आदि) उसे ईमानदारी से और स्पष्टता के साथ पूरा पूरा बताता जाए, अपने अवचेतन मे काम कर रही प्रेरणाओ के प्रति जागरूक रहे धीरे-धीरे उन अवचेतन प्रतियासो (एटिच्यूड्स) को बदलने के लिए, जो उसे प्राय असतुलित किए रहते हैं अपने म योग्यता पैदा करे। इसम मनोविश्लेषक का काम होता है—1 देखना-सुनना (आब्जर्वेशन), 2 विवेचन विश्लेषण के साथ-साथ व्याख्या करना, 3 सहानुभूतिपूर्ण अन्तदृष्टि (अण्डरस्टैंडिंग) और 4 बाधकता यानी अटक के समय पुन मुखरित होने अर्थात खुलने म पात्र की सहायता करना आदि।[3] उपन्यास के पात्रो से यह आशा तो की जा सकती है कि उनके मन मे जो आ रहा है उसका पूरी सच्चाई और स्पष्टता के साथ बताते चलें और अपने अवचेतन म सक्रिय प्रेरणाओ के प्रति सजग रहकर उनका उल्लेख भी करते जाएँ जैसा कि इला और लिजा करती है। पर उनसे यह माग नही की जा सकती कि वे अपने अवचेतन प्रतियासो को बदलने की चेष्टा करें। जयवधन म हुस्टन इला और लिजा का मुक्त साहचय की स्थिति म लाने के बाद ध्यान स सुनता रहता है और उनके रुकने पर सहानुभूति एव सौजन्यपूर्ण प्रश्नो द्वारा उन्हें पुन मुखरित करने का प्रयास भी करता है। पर अपनी व्याख्या द्वारा वह पात्र को समझाने नही बैठता। व्याख्या वह करता अवश्य है पर मुक्त साहचय की समाप्ति पर अपनी डायरी म और उनकी अनुपस्थिति मे ही, क्योकि उसकी व्याख्या उपन्यास के पात्रो के लिए नही, जनेन्द्र के पाठको के लिए है।

मुक्त साहचय की स्थिति म आ जाने पर पात्र के चेतन मन का उस पर से

---

1 Dalberz Psycho analytical Method and the Doctrine of Freud, p 206
'The essence of analytical cure consists in resolving morbid habits by reducing them to the memory of events from which they sprang

2 P Schilder Psycho-analysis Man and Society, ed 1951 p 7
'The method liberates the individual from the constraint of a superficial meaning so that the deeper meaning may come to surface a meaning which is in relation to the un satisfied needs and wishes of the individual s life

3 Karen Horney Self Anylysis—Analyst s Share in the Psycho-analytical Process, 101 & 123

नियन्त्रण टूट जाता है, वर्तमान की पकड ढीली पड जाती है और धीरे धीरे वर्षों पहले का अतीत ही उसके लिए वतमान हो आता है। स्मृति-पट पर अतीत की घटनाओ के उभर रहे चलचित्र मे वह पूरी तरह खो जाता है और अतीत को दोबारा जीने लगता है। यही नही, विगत वेदना और व्यथा को भी वह फिर से भोगने लगता है। अत जब तक मुक्त साहचय की स्थिति बनी रहती है वह अपने वतमान परिवेश से एकदम कटा रहता है और उसे भान ही नही रहता कि उसके पास ही कोई उसकी व्यथा का साक्षी बना बैठा है। इसीलिए मुक्त साहचय की समाप्ति पर अतीत से वतमान म लौटने के लिए उसे थोडा आयास पडता है।

हूस्टन की डायरी मे, जो 'जयवधन' उपन्यास के रूप मे उपलब्ध है, इला के मुक्त साहचर्य का बडे विस्तार से वणन हुआ है। इसमे इला की ही निविडपीडा और मनोग्रन्थियो की झलक नही मिलती, बल्कि उसके माध्यम से जयवधन के मन की भी कुछ गाँठो का पता चलता है। जयवधन तो यही मानता है कि उसे पाने के लिए पहले इला को जानना होगा। इला को हूस्टन के प्रति खुलने की सलाह देत हुए उसने कहा भी था कि 'विलवर कामकाजी नही हैं और भेद लेने आए हैं जिसे वह तत्त्व कहते हैं। वह सब मेरी तुम हो। इसलिए देखो, तुम ही उन्ह सँभाल लेना। जरूरी कुछ हो और जितना हो उतना ही मुझ तक लाना।' यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इला पिछले बीस-बाईस वष से जयवधन के साथ रह रही है, यद्यपि दोनो मे परिणय-सबध नही है और इसीलिए वे सामाजिक अपवाद का शिकार हैं।

इला के बचने की लाख कोशिश करने और बार-बार टालते रहने के बावजूद हूस्टन हिम्मत नही हारता और आखिर उसे मुक्त साहचय की स्थिति तक ले ही आता है। 12 माच को उसने अपनी डायरी मे इला के मुक्त साहचय के बारे मे यो लिखा "'मैंने कहा, ठहरो ! तुम भूल मे हो। जय के लिए तुम अलग नही हो।' बीच मे वह बोली, 'नही, मैं भूल मे नही हूँ, क्योकि मैं जानती हूँ कि एक भूल मैंने की थी।' मैं सप्रश्न हुआ। उसने मेरी ओर देखा जैसे भीतर तक देख लेना चाहा, फिर जाने किस अवशता मे बोली। बोलते समय उसकी आँखें मुझसे हट गई थीं। मानो वे बद ही हो गई थी।" इस प्रकार सकेत मिलता है कि हूस्टन इला को मुक्त साहचय की स्थिति मे ले आया है और उसका प्रलाप चल पडा है 'बहुत दिनो की बात है, बीस, शायद बाईस वष पहले की। सागर का तट था। सध्या डूब चली थी। तट सूना था। लहरो पर लहरें लेकर सागर आता और पछाड खाकर पीछे लौट जाता। मैं बराबर मे साथ न थी। दो पीछे खडी जय को देख रही थी। वह स्तब्ध खडे थे। आज उनका मन ⌄ था। वह सागर की ओर मुह किए खडे थे—स्तब्ध और अचल। उस

मुझम ऐसा गहरा मोह हो आया, जो जैसे उमगा आता हो। उस सामने खड़ व्यक्ति को अक म लेकर समूचा भीतर दुबका लू। पर मन मे जितना भी चाहा, मैं अलग बँधी-सी उन्ह देखती ही रही समय की अनन्तता मुझ पर स बीत गई कि सहसा मूर्ति मुडी। हाथ उसके बढे। मैंने सुना, 'इला!' वह पुकार मुझ बेध गई। बहुत आकस्मिक, बहुत अप्रत्याशित थी यह। मैं चौक कर पीछे हटी। फैले हाथ बढते मेरी ओर आते ही गए और प्यार से बिगडा मेरा नाम 'इली' पछाडो पर पछाड खाता गूज गूँज कर मेरे कानो के परदा पर पडता मेरे समूचे मन म रमता समा गया उन हाथो ने मुझे न छुआ। आँचल के छोर का ही सिर उठाया और उसे अपने होंठो और फिर आँखो से लगाया। मेरे सारे गात मे काँटे सिहर आए। आँखें बद हो गईं, कानो से फुसफुसी, मानो नीरव वाणी म सुनती गई इली ी ी और जाने कैसी पुकार थी। काल के किस छोर स वह चली आई थी। मेरे सूनेपन म से बोल उठा लो लो, लो, मुझे लो तभी एक हलका सा परस मेरी उँगलिया का छू गया। सारे गात मे एकमात्र बिजली दौड गई और मैं बजन करती चिल्लाई नहा, नही नही बजन करती हो मैं अपेक्षा म रही कि कोई होगा जो मेरी 'नही' नही सुनेगा और मुझे ले ही लगा। इस अपेक्षा को ही नहीं' मे दोहराती चली गई, हाथो के वजन स लाने वाले को हटाती और बुलाती चली गई पर हाय किसे हटाकर बुला रहे थे? आँख खोलकर देखा, कोई न था। जो आ रहा था वह चला गया था। उसकी पीठ फिर अब मेरी ओर थी और मुख सागर की ओर था। " इस प्रकार इला का मुक्त साहचय चल पड़ा और उसके स्मृतिपट पर जो आता रहा वह बताती गई और हुस्टन बिना दखल दिए सुनता रहा।

उसके बाद सकेत मिलता है मुक्त साहचय की समाप्ति का "उसकी आँखें खुलीं। जसे उसन अब पहचाना कि वह बाईस वष बाद का आज है। कि बात मुझ विलबर हैल्डन हुस्टन से हो रही है। जसे उसे आयास पडा। इतने बहुत से वर्षों को जो वतमान हो आए थे क्षण मे जो सुला पार कर आना। अ त म पार मिला, स्वस्थ बनती सी वह बोली 'सब मे कभी मैंने उन्ह अवश नही पाया है। अपनी ओर से चेष्टा की है, धृष्टता की है, निलज्जता की है, पर नहीं, कुछ नही हुआ है पूछती हूँ, यह प्रेम है? कुछ उत्तर न दे सका। मैं सन्न हो आया था। जो हुआ, उस पर विश्वास न होता था। किस ढग म तारी यह सब कहने के निकट आ गई, जान न सका। शायद कही भूल हुई है चूक हो गई है। मैंन कहा 'आप अशान न हो।' सुनकर वह मुस्कराई। वही उस मुस्कराहट म चचलता न थी। वह एकदम शिष्ट थी और सयत। जसे जो सुनाया वह पट पर था देखकर बयान के रूप मे ही कह सुनाया गया था। यों वह अलग था यह अलग थी। फिर हँस के बोली, ' कहती हूँ। क्या मैं उसके बाद उन्ह छोट

सकती थी ? पर पा भी कभी नही सकी।' थोड़ा ठिठकी और फिर आवेग में बोलती ही गई, 'बात सच है। मैंने बापू को वचन दिया था। कृतज्ञ हूँ कि जय ने कभी उस मर्यादा पर किंचित रेख नही आने दी। पर पूछती हूँ, वह प्रेम है जिसमे मर्यादा दीखने को रह जाती है ? अधा नही, वह प्रेम है ?' "

इसके पश्चात ह्स्टन की डायरी मे यह लिखा मिलता है, मानो वह पाठक के लिए इला के मुक्त साहचय की व्याख्या कर रहा हो "सुनकर मै चमका। जसे तडक कर बिजली की कौंध भीतर तक चीर गई। सब मर्यादाओ और प्रण-प्रतिज्ञाओ के रहते भी जसे नर के प्रति नारी मे प्रश्न हो, प्रश्न का दावा हो, कि वह मातृत्व से वचित क्यो है। उसका सारा ज्ञान उसकी धमनियो मे रमे और रक्त मे धडकते इस प्रश्न का जैसे शमन न कर पा रहा हो। तो जय ने जो इला का मान रखा, सो ही क्या उसे नारी का अपमान मालूम हो रहा था ?"

(पृष्ठ 128-132)

यह और इस तरह के अनेक स्थल 'जयवधन' म मिलते है जहाँ ह्स्टन इला को मुक्त साहचय की स्थिति मे ले आता है और उसके भीतर गहरी धँसी मनोग्रथियो को स्मृतियो के रूप मे उभारकर इला जय सम्बन्धो की परत पर परत खोलता हुआ उनके वास्तविक स्वरूप को उदघाटित करने का प्रयास करता है।

जयवधन के मन मे इला का स्थान कितना अक्षुण्ण और अनन्य ह यह बात इला के मुक्त साहचय से भी अधिक स्पष्ट होती है। विदेशी युवती एलिजाबेथ के मुक्त साहचय से, जिसमे ह्स्टन जयवधन को लेकर उस सुन्दरी के मन म पडी गाठो को बडे आयास से निकाल लाता है। लिजा (उसका सक्षिप्त नाम) प्रगतिवादी दल के नेता श्रीनाथ की पत्नी ही नही, उस विरोधी दल की जान भी है। नाथ को बताए बिना जयवधन लिजा को योरोप मे अपना प्रतिनिधि बनाने का प्रस्ताव सीधे उसी स कर देता है। लिजा इसमे अपने प्रति जयवधन का आकषण दखकर उल्लसित हो उठती है और अपने पति के दल को जयवधन के निकट लाकर उसका विरोधी रुख समाप्त करन के उद्देश्य से जय स उत्साहपूर्वक मिलती है। पर जय से भेंट के बाद वह बौखलाई-सी उत्तेजित अवस्था म ह्स्टन के पास आती है। ह्स्टन उसकी बौखलाहट का कारण जानना चाहता है और उसके लिए जितनी चेष्टा करता है, वह उस उतना ही टालती है। पर वह जितना टालती है उसके प्रति ह्स्टन की उत्सुकता उतनी ही बढती जाती है। कुशल मनोविश्लेषक की तरह वह इस दिशा मे प्रयास करता है और अन्तत लिजा को मुक्त साहचय की स्थिति मे ले आता है जो लगभग 12 पृष्ठ तक चलता है। इसम लिजा जयवर्धन के प्रति अपनी बौखलाहट का कारण बताते हुए कहती है "बात कुछ नहीं, उनमे तो भाव सत्कार का था। पर उसी स लगा कि वह दूर हो। जब सब कामकाज के सिलसिले म हो, अतिरिक्त कुछ नहीं विलवर, मैं और सब समझ

सकती हूँ, दो आदमियो के बीच यह ठडक मेरी समझ मे नही आती। आदर वहाँ अन्तराय डालने आता है। उस समादर के व्यवधान को किसी क्षण लाँघकर मैं पास आ पाई, या पास ले पाई, यह तनिक अनुभव न हुआ तो क्या सब व्यर्थ ही नही है? योरोप का काम या मवदलीय चर्चा मे मेरा योग सब बड़ा ऊपरी लगता है विलवर और जो होता है, शाम को जाती अभी चली जाऊँ।"

(पृ० 273 274)।

पर लिजा की उत्तेजना को शात करके उसकी बौखलाहट के कारण को मुक्त साहचय के माध्यम से बाहर निकाल लाने के लिए हुस्टन का क्या कुछ न करना पडा था। उसे अभिभावक से लेकर प्रेमी तक का काम करना पड़ा और स्थिति यहाँ तक आ गई कि लिजा प्रेम के स्तर पर उनसे ही उलझकर तुष्टि पाने लगी। दमित प्रेम के मामलो म मनोविश्लेषक को प्राय स्थितियो का सामना करना पडता है जहाँ पात्र का अपने प्रेम का आलबन बदलकर मनोविश्लेषक म ही दिखने लगता है। मनोविश्लेषक के लिए यह परीक्षा की घडी होती है। उस अपन पात्र के प्रेमपाश में फँसने के मोह का सवरण करना होता है। यही नहीं, ऐसा करते समय उसके प्रति अपनी कमनीयता को घटाना नही, बल्कि बढाना होता है और अपनी भीतरी चौकसी को पात्र पर प्रकट नही होने देना होता है अन्यथा सदह के हलके स झोके मे भी उसके विश्वास का गढ टूट जाएगा और उसके भीतर से उमडती भावधारा रुद्ध हो जाएगी।[1] इसलिए अपने पात्र के प्रति कठोर तो वह कभी हो ही नही सकता। ऐसे क्षणो मे मनोविश्लेषक का एक प्रकार से तलवार की धार पर चलना होता है। इस दृष्टि से लिजा के मुक्त साहचय के ये स्थल मननीय हैं—

'सहानुभूति गहरी हुई कहा 'लिजा, प्रिय, और छोडो, मुझे ला और मैं तुम से चौथाई सदी से भी ऊपर यहाँ रहने का मौका पा चुका हूँ, तो क्या उतना ही बड़ा मुझे न मान सकोगी? लिजा, आवेग छोडो, बताओ क्या बात है?'

' देखते देखते वह कुछ और हो आई। बोली, 'मि० हुस्टन आप अभिभावक तुल्य है मैं पति स तोड पर कैसे आ गई? स्त्री के लिए यह आसान नहीं होता। सबके अनुमानो का अपने ऊपर झेलना आसान नही होता। वही मैंने किया। किसलिए?' मालूम नही उस क्या हुआ था। वह बोलती गई। बीच म हमारे मेज थी। मैं अब अपनी जगह से उठा, उसकी कुर्सी की बाँह पर आया

1 द्रष्टव्य Karen Horney Self Analysis, p 136
"With the best will in the world a patient cannot express himself freely and spontaneously if he has an unsolved resentment in his heart toward the person to whom he reveals himself"

और उसके बालो मे हलके-हलके उँगलियाँ फेरते हुए कहा 'लिज़ा !' मानो देह मे कुछ कपन आया। मेरा हाथ तब उसकी दाहिनी कनपटी पर गया और वहाँ हौले से दबाव देकर मैंने उसके चेहरे को अपनी ओर झुकाते हुए कहा, 'अशात न होओ, लिज़ा।'

"वह समय न सकी, मैं समझ न सका। किंचित् वहाँ प्रतिरोध अनुभव हुआ, लेकिन फिर वह सिर, मानो आश्वासन म, मेरी हथेली के दबाव के नीचे झुकता गया और मेरी जाघ पर टिक आया। वह कुछ बोली नही। धीमे धीमे उसकी दाहिनी कनपटी को थपकते हुए मैं कह चला, लिज़ा, तुम्हारे आगे बडा काम है। तुम अपन को भूल नही सकती। ऐसे खोओगी तो कैसे चलेगा ? ' मैं कह जा रहा था। लेकिन मालूम हुआ कि सुनने वाला सुन नही रहा। उसकी आँखें मुद आई थी और वह निश्चेष्ट थी। जैसे खो गई हो।

"कहना रुक गया। मैं स्वय रुक गया। तीन चार मिनट मानो चारो ओर सभी कुछ रुक गया। लिज़ा का सिर उसी तरह गोद मे रहा, बाल उसके सुनहरी थे और मुलायम थे और बहुत थे। अजब अनुभव हुआ, और उस रुके हुए समय मे मन जाने कहाँ-कहाँ उडा फिरने लगा ? कि अकस्मात सिर उठा, लिज़ा सभली, बालो को समेटा और लजाई-सी मुझे देख उठी। मैंने अपने साथ जल्दी की, 'तो जाओगी।' 'हाँ'।" (पृ० 270-272)।

उपर्युक्त उद्धरण से अनुमान लगाया जा सकता है कि रुद्ध लिज़ा को मुखरित करने मे हूस्टन को कितना आयास करना पडा और कितना बडा जोखिम उठाना पडा। तब जाकर कही वह उपर्युक्त स्वीकारोक्ति के कगार पर आई। पर हूस्टन को अभी इससे भी बडी चुनौती का सामना करना था, डिगे बिना। लिज़ा के आवेश की परिणति जब 'परम सतोष' मे हुई तो स्थिति यो थी "हँसना उसका बन्द हो गया। जस खोई सी मुझे देखती रह गई। उस दृष्टि से मैं सहम आया। पीछे हटने को था कि उसने झपटकर मुझे लिया और अपन ओठ मर ओठो पर गाड दिए। मैं अनुद्यत था, और उस क्रिया की तीव्रता के उत्तर म तुरत लगभग कुछ मुझमे से उठकर न आ सका, जैसे मैं सर्वथा निश्चेष्ट बन आया, मानो केवल विषय रह गया। कितनी देर तक इस अवस्था मे रहना हुआ, कह नही सकता। देर अनन्त-सी लगी। अलग हुई तो चौंकी-सी बोली विलवर, यह क्या ?' मैं सचमुच लज्जित था।' (पृ० 278) कहना न होगा कि यह प्रेम-व्यापार इकतरफा ही रहना था क्योकि कुशल मनोविश्लेषक के रूप म हूस्टन को लिज़ा का उबारना था, न कि स्वय को उसमे डूबने देकर सारे किए कराए पर पानी फेरना था।

इस प्रकार, जयवर्धन के जीवन मे आई दो नारियो के मनोविश्लेषण द्वारा

हूस्टन जय के 'निजत्व' को पाने का प्रयास करता है और उसमें उसे कुछ सफलता भी मिलती है। पर जयवर्धन से पाला पड़ते ही उसकी यह सफलता नगण्य होने लगती है। हूस्टन के मनोविश्लेषक की विडंबना यह है कि वह जयवर्धन के पास में आकर अपनी मनोविश्लेषण-प्रतिभा को इन नारियों पर ही केन्द्रित किए रहता है जिसके परिणामस्वरूप उसका लक्ष्य पात्र, अर्थात जयवर्धन जिसका वह अन्तरंग लेने आया है उसकी पकड़ से निकलता रहता है। हूस्टन को भरमाने के लिए (शायद अपने को भरमाने के लिए लिए भी हो) आरंभिक भेंट में ही जयवर्धन ने उसे जता दिया था कि 'इला रोक न पेदा करेगी। मेरे पास कुछ छिपा नहीं है, सब खुला है'। पर पात्र के लाख विश्वास दिलवाने पर भी कोई मनोविश्लेषक यह कैसे मान सकता है कि किसी व्यक्ति में छिपा कुछ भी नहीं है, सब खुला है? ऐसा कह कर वह व्यक्ति अपने जाने धोखा न भी दे रहा हो, पर यह कैसे माना जा सकता है कि उसके इस कथन में आत्मप्रवंचना नहीं हो सकती? तो फिर हूस्टन स्वयं जयवर्धन को मुक्त साहचर्य की स्थिति में क्यों नहीं लाता, इला और लिज़ा को लेकर पड़ी उसकी मनोग्रंथियों के प्रसंग में। इसमें संदेह नहीं कि हूस्टन जयवर्धन से कई बार एकांत में मिलता है दिन में ही नहीं तारा भरी रात की नीरवता में भी, और जयवर्धन उसके साथ दिल खोलकर घंटों बतियाता रहता है पर वह मुखर चिन्तन (थिंकिंग एलाउड) से अधिक कुछ नहीं रहा और वह भी दर्शन एवं अध्यात्म जैसे विषयों पर। हूस्टन जयवर्धन को कभी गहरे मुक्त साहचर्य की स्थिति में नहीं ला पाया जिसमें उसकी प्रेमपगी मनोग्रंथियाँ अतीत की स्मृतियों के रूप में फूट निकलतीं। जयवर्धन के अंतरंग ने आत्मरक्षा में दर्शन और अध्यात्म का जो कवच पहन रखा था, हूस्टन कभी उसे बेध नहीं सका, बल्कि वह उसी को सत्य मानकर उसमें जय के निजत्व की झांकी पाने का भ्रम पालने लगा। जयवर्धन का अन्तरंग लेने आया 'जीवन का विद्यार्थी' हूस्टन उसके तर्क जाल में फँस, मनोविश्लेषक के पद से च्युत होकर जय का भक्त बन जाता है और राजनीतिक मामलों में (स्वामी और इन्द्रमोहन के पास जाकर) उसका दौत्य कार्य भी करता है। वह जयवर्धन के इस कथन को सत्य मानकर अपने प्रयासों को कुंठित होने देता है कि 'आंतरिकता की बात भला कैसे की जा सकती है। जो मैं हूँ उसी को कह कैसे सकता हूँ। आदमी अपनी जानकारी ही तो कहता है अपने होने का कहने में कैसे आ सकता?' (पृ० 328), जबकि प्रत्येक मनोविश्लेषक जानता है कि 'आंतरिकता की बात' की नहीं जाती मुक्त साहचर्य की स्थिति में वह अपने आप होती जाती है और व्यक्ति अपने होने को कहने लगता है।

ऐसी स्थिति में मनोविश्लेषक के रूप में हूस्टन की असफलता अवश्यम्भावी थी। उपन्यास के आरम्भ का हूस्टन जल्दी ही लड़खड़ाने लगता है और अंत तक

पहुँचते-पहुँचते पूरी तरह हार मान लेता है। अपनी डायरी में वह एक स्थल पर [illegible] लिखता है "जो हो, जय राजनीतिज्ञ से पृथक् है। इसी से अपेक्षतया सफल और अचल है। क्या मैं उस तत्त्व विज्ञान का प्रेषणीय रूप में रख सकूँगा कि रहस्य सुगम हो और जीवन की उलझन खुल आए ? अपने संबंध में यह विश्वास नहीं हो पाता।' (पृ० 247)। इला से तो हूस्टन को पूरा सहयोग मिला था और उन वह कई बार मुक्त साहचर्य की स्थिति में लाकर कुछ गुत्थियों को खोल भी चुका था। पर उसे समझने में भी वह हिम्मत हार बैठता है "इस महिला ने मुझसे अपना कुछ गोपनीय नहीं रखा है। घनिष्ठ लगने वाली किन्हीं भी घटनाओं का परिचय उससे मुझे प्राप्त हुआ हो, किन्तु व्यक्तित्व का रहस्य उसी तरह अबूझ और अगम है।" (पृ० 434)।

हूस्टन की असफलता का कारण मानव मन की गूढ़ता ही है या उसके स्रष्टा जैनेन्द्र के प्रावरोध (इनहिबिशन्स) भी, यह विचारणीय है। हर व्यक्ति अंततः एक अबूझ पहेली है, यह सत्य तो आधुनिक मनोविज्ञान के प्रवर्तक सिगमंड फ्रायड को भी स्वीकार करना पड़ा था जिसने व्यक्ति-मानस की अतल गहराइयों को नापने में अपना पूरा जीवन लगा दिया था।[1] अवचेतन की इस [illegible] को लक्ष्य करते हुए जैनेन्द्र ने भी एक बार अपने आलोचकों के प्रति कहा था "[illegible] गहराई में उतर कर चलना ऐसा सरल नहीं होता जैसे ऊपर मैदान में [illegible]। लिखना क्या है ? अपने भीतर की उलझनों को सुलझा पाने का [illegible] है। वहाँ भीतर बड़ी चक्करी अँधेरी गलियाँ हैं, वहाँ प्रकाश [illegible] क्या। इससे वहाँ पैठ कर राह खोजने वाले की गति कुछ धीमी या [illegible] या कुछ चक्करीली-सी हो जाए तो क्षम्य मानना चाहिए। [illegible] बात नहीं लाचारी की बात है।" ('साहित्य का श्रेय [illegible], पृ० 10[illegible])। व्यक्ति के अवचेतन को पूरी तरह समझना तो कठिन [illegible] कुछ वह समझ में आ पाए उसे शब्दों की सीमित भाषा [illegible] और भी कठिन है "बुद्धि निर्मित ये शब्द सतह [illegible] को वे कहाँ नापते हैं ? क्या ये उसका तनिक [illegible] अनुभव होता है क्या वह शब्दों में आता है ?" ([illegible])

इस प्रकार, जयवर्धन ही नहीं, अपने [illegible] की गूढ़ता और अभिव्यक्ति की अपूर्णता के [illegible]

---

1 Hoffman Freudianism and [illegible]
Its inner nature is as unk[illegible]
external world and it [illegible]
through the data of the [illegible]
world through the ind[illegible]

लेते हैं। सुनीता हो या कल्याणी, सुखदा हो या जयवर्धन, जैनेन्द्र के सभी पात्र एक सीमा तक ही खुल पाते हैं। तत्पश्चात उनका अंतरंग नाना रूप धर कर पाठकों का भरमाने लगता है और वे अंत तक अबूझ पहेली बने रहते हैं। क्या वस्तु-जगत के व्यक्ति की तरह उपन्यास के पात्र का भी अंतत: अबूझ रह जाना अनिवार्य है? यदि नहीं, तो सोचना होगा कि इन पात्रों की अज्ञेयता के बीज कहीं उनके स्रष्टा के अपने अवचेतन में तो विद्यमान नहीं। इन उपन्यासों को पढ़ते हुए बहुधा ऐसा लगता है कि अपने पात्रों और उनकी अज्ञेयता की तरह जैनेन्द्र के अंतरंग ने भी आत्मरक्षा में अध्यात्म और दर्शन का एक दृढ़ कवच पहन रखा है और उनका लेखन, अपनी तीक्ष्ण तार्किकता के बावजूद उसे बेध नहीं पा रहा। पर उनका चेतन मन हार मानने के बजाय उस कवच को ही सत्य मानने का भ्रम पालने लगता है और उसके सहारे अपने भीतर की उलझनों को सुलझाने के प्रयास में उन्हें उत्तरोत्तर उलझाता जाता है। 'अज्ञेय' ने इस दुरूहता को 'प्रेशर मायोपिया'[1] की संज्ञा दी है, पर हम इसे जैनेन्द्र के अंतरंग और उसकी अज्ञेयता की मजबूत किलेबंदी ही कहेंगे। ऐसी स्थिति में पाठक अन्तत: खाली हाथ ही रह जाए तो आश्चर्य नहीं।



1 S H Vatsyayan Foreword to 'The Resignation' (त्यागपत्र का अंग्रेजी रूपान्तर)
'It was a case of a sort of pressure myopia—the sheer intensity of his (Jainendra's) vision seemed to blind him and his reasoning became specious, quibbling and even banal."

अज्ञेय के माध्यम से वात्स्यायन की खोज

अज्ञेय बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनके पन्द्रह कविता-संग्रह, सात कहानी-संकलन, तीन उपन्यास, बीस निबन्ध-संग्रह, दो यात्रावृत्त और दो डायरी-संकलन प्रकाशित हो चुके हैं। उनका व्यक्तित्व भी बहु-आयामी था। क्रान्तिकारी और घुमक्कड़ तो वे थे ही। हरफनमौला भी वे गजब के थे। लेखन और चित्रांकन से लेकर माली, बढ़ई, रसोइये का काम भी वे बढ़िया ढंग से और खुशी-खुशी कर सकते थे। शानोशौकत से रहना उन्हें पसंद था, पर ऐसी सुविधा न रहने पर वे मस्तमौला फक्कड़ की तरह भी मजे में रह सकते थे। उनकी पसंद और नापसंद दोनों प्रबल थी। अपने चकरीले-पथरीले जीवन में उन्होंने अपने आस-पास मित्र-मंडली भी खूब जमाई और शत्रु भी अनगिनत पैदा किए। उनके प्रशंसक और निन्दक बेशुमार हैं।

अपने को वे मूलतः कवि मानते थे। नयी कविता के तो प्रवर्तकों में ही उनकी गिनती होती है। पर अनेक उत्कृष्ट रचनाओं के बावजूद उनकी कविता कई प्रवादों का शिकार बनी जबकि उनके कथा-साहित्य ने उनकी छवि को चमकाया है। मुझे तो यह भी लगता है कि उनकी धवल कीर्ति को अक्षुण्ण रखने के लिए उनका कथा-साहित्य ही पर्याप्त है। 'रोज़', 'जयदोल', 'हीलीबोन की बत्तखें', 'पठार का धीरज', 'शरणदाता', 'बदला' आदि उनकी बेजोड़ कहानियाँ तथा 'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' नामक उपन्यासों की गणना विश्व-साहित्य की श्रेष्ठ कथाकृतियों में की जा सकती है। उनके कथाकार ने बस एक जगह मात खाई है। वायदा करके भी, अज्ञेय और उनके पाठकों के लाख चाहने पर भी, वह 'शेखर : एक जीवनी' का तीसरा भाग प्रकाश में नहीं ला सका।

अज्ञेय के ये दोनों उपन्यास, विशेषकर 'शेखर : एक जीवनी', आत्मकथापरक रचनाएँ हैं। उनमें आत्मकथा-तत्त्व कितना है और उसके सहारे लेखक के अपने विकास-सूत्रों को कहाँ तक पहचाना और परखा जा सकता है, इसके लिए इन उपन्यासों की रचना तक अज्ञेय के जीवनवृत्त की संक्षिप्त जानकारी आवश्यक

होगी। वे पंजाब में जालंधर के निकट कर्तारपुर के भणोत सारस्वत ब्राह्मण कुल के थे। उनके पिता डा० हीरानन्द शास्त्री भारत सरकार के पुरातत्व विभाग के उच्च अधिकारी थे। वे संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे और स्वाभिमानी एवं अनुशासनप्रिय भी। वे प्रायः दौरे पर रहते थे। कसिया (देवरिया) के एक पुरातत्व खुदाई शिविर में 7 मार्च, 1911 को अज्ञेय का जन्म हुआ। उनका बचपन सन् 1911 से 1915 तक लखनऊ में तथा 1915 से 1919 तक जम्मू और कश्मीर में बीता। 1919 में वे पिता के साथ नालंदा आए जहाँ पिता ने उन्हें हिन्दी लिखाना शुरू किया। उनकी शिक्षा घर पर ही संस्कृत की मौखिक परम्परा से प्रारम्भ हुई थी। घर पर ही उन्होंने पंडित से रघुवंश, रामायण, हितोपदेश आदि पढ़े तथा मौलवी से शेख सादी और पादरी से अंग्रेजी की शिक्षा शुरू की। उनके मानसिक विकास में माता की अपेक्षा पिता का योगदान अधिक रहा। बचपन में वे छोटी बुआ और बड़ी बहन के अधिक स्नेहभाजन रहे। उनका उपनयन संस्कार 1921 में उडीसा के माधवाचार्य द्वारा हुआ और उसी समय 'भणोत' से 'वात्स्यायन' बने। जलियाँवाला बाग कांड के आस-पास ही उन्होंने अपनी माँ के साथ पंजाब की यात्रा की जिससे उनके भीतर अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह का बीजारोपण हुआ। 1925 में उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय से प्राइवेट मैट्रिक पास किया। फिर विज्ञान में इंटर पास किया क्रिश्चियन कालिज, मद्रास से 1927 में। 1929 में उन्होंने फोरमन क्रिश्चियन कालिज, लाहौर से बी० एस-सी० किया और इसी दौरान चन्द्रशेखर आजाद, सुखदेव, भगवतीचरण वोहरा-जैसे प्रसिद्ध क्रान्तिकारियों के संपर्क में आए। सन् 1929 में उन्होंने एम० ए० (अंग्रेजी) प्रथम वर्ष में दाखिला लिया, पर बढ़ती हुई क्रान्तिकारी गतिविधियों के कारण पढ़ाई बीच में ही छूट गई। दिल्ली में क्रान्तिकारी मित्रों के साथ बम फैक्टरी शुरू की। ऐसी ही एक फैक्टरी अमृतसर में भी खोलने के प्रयास में वहाँ 15 नवंबर, 1930 को पुलिस द्वारा पकड़ लिए गए। एक महीना लाहौर के किले में बंद रहे और फिर अमृतसर हवालात में। 1931 से 1933 तक दिल्ली में मुकदमा चला। दिल्ली-जेल की काल कोठरी में 'शेखर : एक जीवनी' नामक उपन्यास ने जन्म लिया। 1934 में जेल से छूटे तो अपने ही घर में नजरबंद कर दिए गए।

उन्होंने 1936 में आगरा में 'सैनिक' का संपादन किया। 1937 में वे पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के आग्रह पर 'विशाल भारत' में गए और लगभग डेढ़ वर्ष तक उसका संपादन किया। फिर पहली बार रेडियो में नौकरी की। 1942 में सेना में कमिशन लिया और असम-बर्मा फ्रंट पर तैनात हुए। 1946 में वे सैनिक सेवा से निवृत्त हुए। 1947 से 1950 तक 'प्रतीक' का संपादन किया तथा 1950 से 1955 तक आकाशवाणी, नई दिल्ली में नौकरी की। 1961

से 1964 तक ये कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय, बर्कले में विज़िटिंग प्रोफेसर रहे। ये 1964 से 1969 तक 'दिनमान' के और 1977 से 1979 तक 'नवभारत टाइम्स' के संपादक भी रहे।

उन्होंने 1924 में पहली कहानी लिखी और 1927 में पहली कविता। उनकी प्रमुख कृतियों का प्रकाशनक्रम यों रहा—(कहानी-संग्रह 1937), 'शेखर एक जीवनी', भाग 1 (उपन्यास 1941), 'तारसप्तक' (कविता संकलन 1941), 'शेखर एक जीवनी', भाग 2 (उपन्यास 1944), 'इत्यलम्' (कविता-संग्रह 1946), 'प्रिज़न डेज़ एंड अदर पोएम्स' (कविता संग्रह 1946), 'हरी घास पर क्षण भर' (कविता-संग्रह 1949), 'बावरा अहेरी' (कविता-संग्रह 1954), 'नदी के द्वीप' (उपन्यास 1952), 'अरे यायावर, रहेगा याद ?' (यात्रावृत्त 1953), 'जयदोल' (कहानी-संग्रह 1951), 'इंद्रधनु रौंदे हुए ये' (कविता-संग्रह 1957), 'अरी ओ करुणा प्रभामय' (कविता-संग्रह 1959), 'आत्मनेपद' (निबंध 1966), 'अपने-अपने अजनबी' (उपन्यास 1961), 'एक बूंद सहसा उछली' (यात्रावृत्त 1960), 'आँगन के पार द्वार' (कविता-संग्रह 1961, (साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत), 'सुनहले शैवाल' (कविता-संग्रह 1965), 'कितनी नावों में कितनी बार' (कविता संग्रह 1967, भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा पुरस्कृत), 'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ' (कविता-संग्रह 1969), 'सागर मुद्रा' (कविता-संग्रह 1970) 'भवन्ति' (डायरी 1972), 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ' (1973), 'महावृक्ष के नीचे (1977), 'नदी की बाँक पर छाया' (कविता-संग्रह 1982)।

अज्ञेय का पूरा नाम था सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन। वे इसे अपने उपनाम 'अज्ञेय' से अलग ही रखते थे। यदि कोई उनका पूरा नाम लिखने के प्रयास में सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' लिख देता हो वह उन्हें अखरता। यह शायद विद्वान पिता के सान्निध्य में दक्षिण प्रवास का प्रभाव था कि वे अपने नाम के बाद पिता का नाम भी जोड़ते थे। उनका कुलनाम तो था 'भणोत', पर उपनयन संस्कार में उड़ीसा के माध्वाचार्य ने उनके गोत्र 'वत्स' के आधार पर उन्हें जो 'वात्स्यायन' नाम दिया उसे ही उन्होंने सरनाम के रूप में अपना लिया। अज्ञेय' उपनाम उन्हें जैनेन्द्रकुमार से मिला। यह कैसे हुआ, इसका विवरण जैनेन्द्रजी के शब्दों में यों है

"उन्हीं दिनों (क्रान्तिकारी हलचलों के दौरान) सच्चिदानन्द वात्स्यायन का दिल्ली में केस चल रहा था। वे जेल में थे। जेल से उनकी चिट्ठियाँ आने लगीं। रचनाएँ आने लगीं। भाव कुछ इस तरह का था कि क्या ये रचनाएँ छप सकती हैं ? मैंने तब प्रेमचन्द को उनकी एक कहानी भेज दी। वे साप्ताहिक

'जागरण' निकालते थे। मैंने सोचा, वात्स्यायन ने जेल से रचनाएँ भेजी हैं इसलिए हो सकता है उनका नाम देना ठीक न हो। इसीलिए 'अज्ञेय' लिख दिया। उन्हीं दिनों 'विशाल भारत' का एक कहानी विशेषांक निकलने वाला था। वहाँ भी मैंने बनारसीदास चतुर्वेदी का वात्स्यायन की एक कहानी भेज दी—अज्ञेय के नाम से। इस तरह वात्स्यायन से मेरा परोक्ष परिचय हुआ था।

"तब जेल से वात्स्यायन के मुझे कई पत्र मिले थे। एक पत्र में उन्होंने लिखा कि आपसे मिलने की बड़ी इच्छा है। क्या किया जाए, कोई उपाय नहीं है। एक ही रास्ता हो सकता है। सेशन कोर्ट में फलाँ तारीख को हमारा केस है। तय है कि कोर्ट में अपराध सिद्ध होने के तत्काल बाद हम जेल से कहीं और भेज दिए जाएँगे। बड़ा अच्छा हो कि आप कोर्ट में मिलने आ जाएँ।

"तब मैं सदर पहाड़ी धीरज में रहता था। सेशन कोर्ट वहाँ से दूर नहीं था। अदालत में मैंने देखा, वात्स्यायन के हथकड़ियाँ लगी हैं और पुलिस पास खड़ी है। जब हथकड़ियाँ खुल गईं तो हम लोग वहीं बैठ गए। बातचीत हुई। वह दृश्य आज भी मेरी आँखों के सामने है।

"जब वात्स्यायन को पता चला कि मैंने उनका नाम 'अज्ञेय' रख दिया है, तो उन्होंने शुरू में नाखुशी जाहिर की। लिखा—मेरा तो पहले से ही एक उपनाम है—श्रीवत्स। आपने मुझे देखा नहीं है। श्रीवत्स का एक अर्थ हाथी भी होता है। आप देखेंगे तो लगेगा कि यह नाम भी सार्थक ही था।

"कुछ दिनों तक वात्स्यायन असमंजस में रहे। लेकिन बाद में उन्होंने 'अज्ञेय' उपनाम अपना लिया।" ('नवभारत टाइम्स', 9 मार्च, 1986)

उन्होंने स० ही० वात्स्यायन और अज्ञेय दोनों नामों में लिखा है और प्रारम्भिक काल में 'कुट्टिचातन' उपनाम से भी। सर्जनात्मक लेखन वे अज्ञेय नाम से करते थे तथा समीक्षात्मक और अन्य लेखन स० ही० वात्स्यायन नाम से। इस विभाजन से कभी-कभी विवादास्पद स्थिति भी उत्पन्न हो जाती थी। विशेषतः जब वे स०ही० वात्स्यायन नाम से अज्ञेय की रचनाओं पर टीका टिप्पणी करते। साहित्य अकादमी द्वारा 1957 में प्रकाशित पुस्तक 'कंटेपरेरी इंडियन लिटरेचर' में संकलित उनका लेख 'हिन्दी लिटरेचर' इसका ज्वलन्त उदाहरण है जो 'स० ही० वात्स्यायन' नाम से छपा था। उसमें 'उत्तम पुरुष' में अज्ञेय की कृतियों की चर्चा थी। उस लेख पर हिन्दी-जगत में खूब बावेला मचा था।

अज्ञेय के उपन्यास वर्गसंघर्ष के उपन्यास नहीं, न वे व्यक्ति और व्यक्ति के संघर्ष के ही उपन्यास हैं। आज के अनिश्चय, अव्यवस्था और जटिलता के युग में 'एक व्यक्ति के भीतर जो अनेक बहुमुखी व्यक्तित्व उभर आए हैं और उनके कारण उसमें जो संघर्ष चल रहा है मानवता के संचित अनुभव के प्रकाश में ईमानदारी के साथ उसे पहचानने की कोशिश करना' ही उनके उपन्यासों का

लक्ष्य है। इस प्रकार उनके उपन्यास व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास बन गए हैं। अज्ञेय की रुचि सदा व्यक्ति मे ही रही है। सामाजिक दृष्टि को वे गलत नही कहते, पर उसे निर्णायक भी नही मानते। उनकी धारणा है कि व्यक्ति को दबा कर किसी मामले का जो भी निणय होगा, वह गलत होगा, घृण्य होगा, असह्य होगा। 'नया समाज' के मई, 1952 अक मे प्रकाशित अपने लेख 'नदी के द्वीप—एक परिचय' मे उन्होने यह विश्वास व्यक्त किया था कि 'व्यक्ति अपने सामाजिक सस्कारो का पुज भी है, प्रतिबिम्ब भी, पुतला भी। उसी तरह वह अपनी जैविक परम्पराओ का भी प्रतिबिम्ब और पुतला है—जिन परिस्थितियो से वह बनता है, उन्ही को बनाता और बदलता भी चलता है, वह निरा पुतला, निरा जीव नहीं है, वह व्यक्ति है, बुद्धि विवेक-सम्पन्न व्यक्ति।'

अपनी एक प्रसिद्ध कविता 'नदी के द्वीप' मे अज्ञेय ने व्यक्ति और समाज के सम्बन्धो को लेकर एक रूपक भी बाधा है "हम नदी के द्वीप है/हम नही कहते कि हमको छोड कर स्रोतस्विनी वह जाए।/वह हमे आकार देती है।/हमारे कोण, गलिया, अन्तरीप, उभार, सैकत-कूल/सब गोलाइया उसकी गढी है।/ मा है वह, इसी से हम बने हैं।/किन्तु हम हैं द्वीप/हम धारा नही है।/स्थिर समपण हैं हमारा/हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के किन्तु हम बहते नही हैं क्योकि बहना रेत होना है।/हम बहगे तो रहगे ही नही। "

'शेखर एक जीवनी' घनीभूत वेदना की केवल एक रात मे फासी की कोठरी मे पडे एक क्रान्तिकारी का अपन गत जीवन का प्रत्यावलोकन है। वह जानना चाहता है कि वह जसा है, वैसा हुआ क्यो। इस खोज मे वह भावुकता से काम न लेकर जीवन की विज्ञान सगत कायकारण प्रणाली यानी आत्म विश्लेपण को अनासक्त निममता से अपनाता है। इस तरह व्यक्तित्व का क्रमिक विकास इस उपन्यास का मुख्य विपय बन जाता है। इसके दो भाग है। पहले नायक शेखर के वाल्यकाल का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है—वाल्यकाल की परिस्थितियो के घात प्रतिघात से उसके चरित्र का विकास और फिर उसके निमित्त उन परिस्थितियो की आलोचना। शेखर यदि अन्ततोगत्वा एक सशक्त क्रातिकारी बन सका तो वह निश्चय ही एक असाधारण बालक रहा होगा। वह जन्म से ही विद्रोही था और उसकी परिस्थितियाँ भी ऐसी बनती गइ कि उसके भीतर का विद्रोह-बीज उत्तरोत्तर पनपता गया। स्वभाव से ही वह विनीत न बनकर स्वेच्छाचारी और विद्रोही बना उसके माता पिता का स्वभाव, भाई बहनो मे उसका स्थान, घर के विधि निपेधात्मक नियम तथा उसकी पढाई लिखाई, खेल-कूद, सखा-साथी आदि की परिस्थितियाँ भी उसी प्रकार की बनती गईं कि उसका समाजीकरण गति न पकड सका और उसका विद्रोही स्वभाव उग्र से उग्रतर होता गया। शेखर मे सहज बुद्धि की कमी नही थी, पर उस बुद्धि की प्रवाहगति का

निर्देश करने वाली शक्ति ससार म नहीं थी। यह बुद्धि उसकी थी, उसके प्रयोग के लिए थी, वह उसका मनचाहा उपयोग करता था और वह जानता था कि जहाँ उसने अपनी सहज बुद्धि की प्रेरणा को माना वहाँ उसने उचित किया और जहाँ उसकी बुद्धि को दूसरो ने प्रेरित किया, वहीं वह लडखडा गया।"

शेखर के इस अहभाव की पुष्टि जहाँ एक ओर उसके घर के वातावरण और उसके माता पिता तथा भाई-बहनो के उसके प्रति व्यवहार म हुई, वहाँ उसे दृढ स दृढतर बनाते रहने के लिए मद्रास के एटीगोनस क्लब क राघवन, सदाशिव आदि सदस्यों, रात्रि पाठशाला के विद्यार्थियो, काग्रेस अधिवेशन शिवर के स्वय-सेवको तथा मोहसिन, रामजी विद्याभूषण आदि जेल के अय व्यक्तियो का योग-दान भी रहा। विद्याभूषण से उसे नयी दृष्टि मिली कि 'अभिमान या अहकार एक सामाजिक कर्त्तव्य ही हो सकता है।' उसकी प्रचड विद्रोह भावना के उन्नयन म बाबा मदनसिंह की भी प्रबल प्रेरणा रही। बाबा से उसने जाना कि 'अहिंसात्मक रक्तपात' भी हो सकता है। शेखर के व्यक्तित्व के क्रमिक निर्माण म इन सबका महत्त्वपूर्ण योग रहा। फिर उसकी मौसेरी बहन शशि भी उसकी प्रमुख प्रेरणा बनी। उपन्यास मे शशि का अपना व्यक्तित्व भी बहुत प्रभावशाली बन आया है, पर शेखर के निकट उसका स्थान 'उस सान स अधिक' नहीं रहा, जिस पर बराबर चढाया जाकर शेखर का जीवन तेज होता गया।' शेखर की दृष्टि म वह उसके विकास के निमित्त से अधिक और कुछ नहीं रहा।

शेखर एक जीवनी' की तरह 'नदी के द्वीप' भी व्यक्ति चरित्र का उपन्यास है, पर इसका विषय व्यक्ति चरित्र का क्रमिक विकास दिखाना नहीं विकसित चरित्र को धीरे धीरे उघाडना है। गौरा को छोड 'नदी के द्वीप' के सभी पात्र परिपक्वावस्था मे ही उपन्यास मे आते हैं। गौरा का चरित्र अवश्य उपन्यास म ही परिपक्वता का प्राप्त होता है। पर उसके व्यक्तित्व का क्रमश निर्माण उपन्यास का लक्ष्य नहीं प्रतीत होता, उसके विकास की विभिन्न अवस्थाओ के उदघाटन की ओर ही उपन्यासकार का ध्यान रहा है।

'नदी के द्वीप' का नायक है भुवन। भुवन वैसे तो फिजिक्स मे डाक्टर है। पर उपन्यास का विषय वैज्ञानिक भुवन नहीं, व्यक्ति भुवन की भीतरी घुमडन का प्रकाशन है जो उसके विचारो और कार्यों को निर्दिष्ट करती है। रेखा और गौरा अलग-अलग उसकी दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तिया को उकसाती है रेखा उसकी यौन प्रवृत्ति को उद्दीप्त करती है तो गौरा उसकी विवेक-बुद्धि को जो सामाजिक नैतिकता की आवाज है, जागत करती है। सच तो यह है कि रेखा के माध्यम स वैज्ञानिक भुवन के भीतर का असली कामुक भुवन व्यक्त हो उठा है। वासना की नदी के प्रवाह म एक बार तो उसकी रिसर्च-विच सब कुछ बह गई थी। उसे डूबने स यदि कोई बचा सका तो वह गौरा का अस्तित्व था। भुवन की इन दो प्रवृत्तियो

मे ज़ोर का सघर्ष चलता है। जब रेखा उसकी जीवन धारा को निर्दिष्ट कर रही होती है तो बीच बीच मे गौरा की याद आकर अकुश का काम करती है। फिर रेखा के 'फुलफिलमेन्ट' के बाद जब वह गौरा की ओर प्रवृत्त होता है, तब बीच-बीच मे रेखा का ध्यान उसे विचलित करके पूर्णतया समर्पित नही होने देता। भुवन के जीवन मे निरन्तर उसकी सेक्स भावना यानी रेखा की ही प्रबलता रही, पर अन्ततोगत्वा उसने गौरा को जो पूर्णत स्वीकार कर लिया उसके पीछे सेक्स-प्रवृत्ति नहीं थी।

शेखर और शशि की तरह भुवन और रेखा के भीतर भी गहरे मे सेक्स और कान्शयन्स मे भीषण सग्राम छिडा रहता है। अन्तर केवल इतना है कि 'शेखर एक जीवनी' के प्रधान पात्रो के अचेतन मे पहले 'कान्शयन्स' की सेक्स पर विजय होती रहती है और बाद म सेक्स की जीत ध्वनित होती है। पर 'नदी के द्वीप' मे पहले सेक्स जीतता रहता है और बाद मे 'कान्शयन्स'। नौकुछिया ताल के एकात प्रदेश मे भुवन के भीतर यह सघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। रेखा के समर्पण को वह स्वीकार नही कर पाता है। यहा उसकी कान्शयन्स की विजय होती है और समर्पण होता होता बीच मे रुक जाता है। पर कश्मीर की ऊँचाइयो पर उसकी यौन प्रवृत्ति ज़ोर मार कर विजय पा गई। रेखा का हेमेन्द्र रूपी शाप टूट गया। उसने भुवन को पुरुष करके जान लिया और 'फुलफिल्ड' हो गई। पर इसके फलस्वरूप जिस 'सजन वायलिनिस्ट' का सूत्रपात हुआ था वह इन दोनो की वासना के वायुयान को जीवन की यथार्थ भूमि पर ला पटकता है। 'सजन वायलिनिस्ट' के हित चितन म भुवन का रेखा को आश्वासन देना कि 'रेखा जो हुआ है मुझे उसका दु ख नही है—वह जो आएगा—आएगा या आएगी वह तो मुहावरा है—वह मेरा है मेरा वाछित—उससे मैं लजाऊँगा नही, वह तुम मुझे दोगी, भूलना मत, तुम्हें और तुम्हारी देन को मैं वरदान करके लेता हूँ' उसके भीतर घर कर रही अपराध भावना को ही ध्वनित करता है। रेखा भुवन के अचेतन मे बैठे इस चोर को ताड लेती है और उस पर तरस खाकर 'सजन वायलिनिस्ट' को समाप्त करा देती है।

'नदी के द्वीप' को पढते हुए डी० एच० लारेंस की याद आ जाती है। लॉरेंस का विश्वास है कि स्त्री-पुरुष की उभयलगिकता (बाईसेक्स्युएलिटी) वैज्ञानिको की कल्पना है वे दोनो अलग-अलग सेक्स हैं—स्त्री शत प्रतिशत स्त्री और पुरुष शत प्रतिशत पुरुष। उसकी धारणा है कि इसीलिए स्त्री और पुरुष का यदि मेल हो सकता है तो मिथुन द्वारा ही। मिथुन द्वारा ही वे एक-दूसरे मे प्रवेश करके एक दूसरे को समझ सकते हैं और एक-दूसरे के स्वतन्त्र तथा अन्योन्याश्रयी रूप को पहचान सकते हैं। इस प्रकार मिथुन लॉरेंस के उपन्यासो का अनिवार्य अग बन जाता है। मिथुन को लॉरेंस पाप नही मानता, यदि दोनो मे मिलन की तडप

और उसके लिए साहस हो—फिर वह इच्छा चाहे क्षणिक ही क्यों न हो। लॉरेंस का कहना है कि जीवन के वासनापूर्ण गुप्त स्थलों पर ही हमारी संवेदनाएं उन्मुक्त होकर हमारे मन को निर्मल और तरोताज़ा करती हुई उमड़ पड़ती हैं। इस दृष्टि से रेखा के 'फुल्फिलमेंट' तक 'नदी के द्वीप' और लॉरेंस के 'लेडी चेटर्लीज़ लवर' में आश्चर्यजनक समानता दीखती है। बाद में भुवन की अपराध भावना 'नदी के द्वीप' को नया मोड़ दे देती है। अज्ञेय स्वयं भी अपने को लॉरेंस के निकट मानते हैं।

अज्ञेय के तीसरे और अन्तिम उपन्यास 'अपने अपने अजनबी' की विषय-वस्तु वही है जो "शेखर : एक जीवनी" की, यानी मृत्यु से साक्षात्कार। अन्तर केवल इतना है कि शेखर के सामने प्रश्न यह था कि उसके जीवन की सिद्धि क्या है अर्थात् यदि वह मर जाता है तो कुल मिलाकर उसके जीवन का अर्थ क्या हुआ। जबकि 'अपने-अपने अजनबी' जीवन-मात्र के नक्शे में मृत्यु मात्र के स्थान की व्याख्या में प्रवृत्त है। किस प्रकार कुछ के लिए मृत्यु स्वयं अपनी होती है और कुछ के लिए अजनबी। किस प्रकार मृत्यु से साक्षात्कार अपनों को अजनबी बना देता है और अजनबियों को अपना, इस प्रश्न को लेकर मृत्यु के प्रति पूर्व के स्वीकार-मात्र और पश्चिम के विरोधाभास की तुलना भी इस रचना में मिलती है। पर अंत तक पहुँचते पहुँचते यह रचना लड़खड़ा जाती है।

बर्फ में दब जाने पर सेल्मा और योके दोनों का मृत्यु से साक्षात्कार होता है। सेल्मा की दृष्टि पूर्व की है और पश्चिम की दृष्टि को योके अपनाए हुए है। पर अंत तक पहुँचते-पहुँचते दोनों जीवन के प्रति निस्पृह हो उठती हैं। इन दोनों के दृष्टिकोण में जो मौलिक अन्तर है उसे स्पष्ट करते हुए अज्ञेय कहते हैं, "दोनों के मार्ग अलग-अलग हैं या कह सकते हैं कि दोनों की यात्राएँ समानान्तर हैं, सेल्मा में मृत्यु का सहज स्वीकार है। पर योके अंत तक अपने दोनों आग्रह बनाए रखती है। एक तो मृत्यु को न मानने का और दूसरे वरण की स्वतन्त्रता का। लेकिन अन्त में वह वरती है मृत्यु को ही। और दूसरे, जब वह अच्छे आदमी को साक्षी बना कर मरना चाहती है तो एक तरह से मृत्यु को स्वीकार भी कर लेती है, क्योंकि सचाई में आस्था और साक्षी के माध्यम से प्रकारान्तर से अमरत्व इन दोनों के सहारे वह मृत्यु से ऊपर उठ जाती है।"

अज्ञेय स्वभाव से ही मितभाषी थे। वे बोलते कम थे और सन्नाटा अधिक बुनते थे। उनकी एक कविता भी है— पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ।' एक बार वे सन्नाटा बुन लें मौन साध लें, तो उससे पार पाना लगभग असंभव ही था। जब बोलते भी थे तो बहुत ही धीमे स्वर में और कम से कम एवं नपे-तुले शब्दों में। खुलते तो वे बहुत ही कम थे। पर जब खुलते तो अपने भीतर के क्षुब्ध पारावार में गहरे गोता लगा कर अमूल्य रत्न निकाल लाते। मुझे कई बार उनके सान्निध्य

का सुअवर प्राप्त हुआ और उनसे साहित्य-चर्चाएँ भी हुईं।

उनके उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' के दो भाग प्रकाशित हुए है, पर वे दोनो मिलकर भी नायक शेखर की पूरी जीवनी को नही समेट पाते। हिंदी जगत वर्षों इस उपन्यास के तीसरे भाग की प्रतीक्षा मे रहा, पर उसे न आना था और न आया ही। एक बार मैंने अज्ञेय से पूछ ही लिया, " 'शेखर एक जीवनी' के तीसरे भाग के लिए अपने पाठको को कब तक तरसाते रहेंगे ?" इस प्रश्न से वे आर्द्र हो उठे और बोले, "उनको क्या तरसाऊँगा। उनसे अधिक तो मैं तरसता हूँ। लेकिन तरसने से कुछ आता-जाता नही है। तीसरा भाग एक बार लिखा गया था। तभी छप गया होता तो छप गया होता। अब वह सशोधन माँगता जान पडता है और मैं भरसक कोई चीज ऐसी अवस्था म छपने नही भेजता हूँ जबकि वह मुझे अधूरी जान पड रही हो। छप जाने के बाद उसके बारे मे मेरी धारणा बदले या सशोधन आवश्यक जान पडे तो दूसरी बात है, वह दूसरे सस्करण मे हो सकता है या ऐसा हो सकता है कि दूसरा सस्करण होने ही न दिया जाए।"

एक बार मैंन उनसे पूछा, "साहित्यिक कृति के माध्यम से आप जीवन और जगत के प्रति बन चुके अपने किसी दृष्टिकोण की प्राय पुष्टि करते हैं या उसकी जाँच की ओर भी अग्रसर होते हैं ?" मेरा प्रश्न सुनकर अज्ञेय चुप रहे। काफी देर तक इसी मौन मुद्रा मे बैठे रहे। मानो मुझे भूल, अपने भीतर की गहराइयो मे गोता लगा रहे हो। फिर उनके होठ फडके और वे धीरे-धीरे कहने लगे, "जीना ही जीवन के प्रति दृष्टिकोण की जाच करना है। जब तक कि व्यक्ति जीवन के अनुभव के प्रति अपने को बिलकुल ही बद न कर ले। उतना बद मैंन अपन आप को नही किया है—उतना बद होना सभव भी नही है अगर कोई बद होना चाहे भी तो।

" जीवन के प्रति दृष्टिकोण जब एक ओर जीवनानुभव की पद्धतियो को प्रभावित भी करता है और दूसरी ओर स्वय उस अनुभव का परिणाम भी है, तब स्वाभाविक है कि अनुभव प्राप्त करते हुए या उसकी ओर खुले रहते हुए दृष्टिकोण के निरतर परिशोधन का प्रयत्न किया जाता रहे—पुष्टि और पडताल दोनो ही इस परिशोधन के अग है। पूर्वधारणा का जो अग अनुभव पर खरा उतर उसे छोड देना, और जहा परिवर्तन की आवश्यकता हो वहाँ परिवर्तन करना—यही शुद्ध दृष्टि है।

" साहित्यिक कृति सर्वदा तो नही किन्तु बहुधा आत्मान्वेषण अथवा आत्माविष्कार का साधन भी होती है। रचना प्रक्रिया मे ही रचयिता स्वय अपने को नये अथवा सही रूप म पहचानता है। इस प्रकार, कृति जितनी कृतिकार द्वारा रची जाती है उतनी स्वय कृतिकार को रचती भी है। कोई भी रचयिता रचना

मरने से पूर्व और पश्चात् वही नहीं रहता। मेरा विश्वास है, सभी कृतिकार इस बात की पुष्टि करेंगे।"[1]

अज्ञेय के उपन्यासों को विशेषतः 'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' को पढ़ते समय एक प्रश्न बार-बार कौंध जाता है कि उनमें नायक-नायिका की क्रिया प्रतिक्रिया के रूप में, नर-नारी का कौन-सा समीकरण निरूपित हुआ है। क्या वे एक-दूसरे के बराबर हैं या एक-दूसरे के निमित्त हैं, पूरक हैं। उनमें कई जगह यह ध्वनि निकलती लगती है कि पुरुष की उन्नति का नारी निमित्त मात्र है और उससे अधिक कुछ नहीं। इन दोनों उपन्यासों में साम्य खोजते हुए एक बार अवसर पाकर मैंने अज्ञेय से ही पूछ लिया, "शशि या रेखा के समर्पण की नींव पर शेखर अथवा भुवन जब अपने भविष्य का भव्य प्रासाद बनाने की सोचते हैं तो क्या शशि या रेखा उनके लिए साधन या अधिक से अधिक प्रेरणा मात्र नहीं रह जाती ?"

उत्तर में अज्ञेय ने कहा, "मेरी समझ में शेखर और भुवन के चरित्र अथवा नारी के सम्बन्ध में उनकी धारणा में अन्तर भी है। शेखर यह मानता है कि नारी अपने प्रिय को आगे बढ़ाने का निमित्त बनती है। वह यह भी अनुभव करता है कि उसके जीवन में भी नारी का इस प्रकार का योग रहा है और उसके मन पर इस बात का बोझ भी है। उसको बनाने में कोई टूट जाए, इसमें जहाँ वह दानी के प्रति कृतज्ञ है वहाँ इसलिए कुंठित भी है कि क्या वह जितना दे सकता है उससे अधिक उसे मिल चुका है, अर्थात् वह चिरऋणी रह जाए ? भुवन में अपराध का भाव दूसरे ढंग का है, दूसरे कारण से है। उसका अहं भी शेखर जैसा प्रबल नहीं है।"[2]

किसी का चिरऋणी रह जाना न शेखर को गवारा है न उसके रचयिता अज्ञेय को और न उनके मूल प्रेरक वात्स्यायन को ही, न उपन्यास में और न जीवन में। उनका अहंभाव इतना प्रबल है कि चिरऋणी रह जाने की संभावना-मात्र से वे सिहर उठते हैं और सम्बन्धित व्यक्ति से वह चाहे कोई भी हो, मुक्ति पाने के लिए छटपटाने लगते हैं। वे नदी के द्वीप ही बने रहना चाहते हैं, व्यक्ति को समाज की, समष्टि की, अखंड धारा में छोड़ देने को कतई तैयार नहीं। उन्हें इस बात का खतरा रहता है कि वह गलता रहता जाएंगे/बहगे तो रहेंगे ही नहीं।' व्यक्ति की अद्वितीयता में अडिग आस्था रखने वाले और उसकी अस्मिता का सर्वोपरि मानने वाले अज्ञेय का यह गुमनाम स्थिति किसी भी हालत में स्वीकार्य नहीं।



1 डा० रणवीर रांग्रा, भारतीय साहित्यकारों से साक्षात्कार भारतीय ज्ञानपीठ 1988, पृ० 175-77

2 वही।

अज्ञेय के औपन्यासिक स्वप्न

आधुनिक मनोविज्ञान की जिन उपलब्धियो ने साहित्य को प्रभावित किया है उनमे स्वप्न विश्लेपण सम्बन्धी खोजो का विशेप स्थान है। यो तो साहित्य की सभी विधाओ ने इस जानकारी का न्यूनाधिक लाभ उठाया है, पर पात्रा के अतल मानस की जटिलताओ के वास्तविक रूप को चित्रित करने के उद्देश्य से उपन्यास म इसका सर्वाधिक प्रयोग हुआ है और अब स्थिति यहाँ तक पहुँच गई है कि जटिल व्यक्तित्वो की तलाश मे कई मनोविश्लेपक उपन्यासो के पन्ने पलटने लगे हैं।[1]

उपन्यास का जगत हमारे जगत्-सा ही होता है और उसके पात्र भी हम और हम-जैसे। हमारी तरह वे भी सो लिया करते हैं, पर उनका सोना दिन भर की थकान मिटाने के लिए नही होता। उनका सोना और जागना उपन्यास की माँग के अनुसार होता है यही कारण है कि जब वे मोते है तो निर्बाध निद्रा का आनन्द नही ले पाते। रात भर वे अनेकानेक स्वप्न देखते रहते हैं। इन स्वप्नो मे उनके जीवन-सूत्र बिखरे रहते हैं, उनके अतल मानस की गुत्थियाँ उलझती-सुलझती रहती हैं, उन्हें दिन-रात बेचैन किए रखने वाले अवचेतन सघर्ष उभर आते हैं।

मानव के अवचेतन को समझने मे स्वप्न कितने उपादेय होते हैं, इस बात को स्पष्ट करते हुए जमन कवि हेबेल ने एक बार कहा था कि यदि कोई व्यक्ति अपने स्वप्नो को सकलित करके उनकी परीक्षा करे और उनके साथ सम्बन्ध रखने वाली सह-स्मृतियो को जोड दे, फिर उन स्वप्नो को अतीत के स्वप्नो के साथ मिलाकर उनका अध्ययन करे तो इस तरह वह मनोविज्ञान की किसी भी प्रणाली की अपक्षा अपने आपको अधिक अच्छी तरह समझ सकेगा। फ्रायड पहला मनोवैज्ञानिक था जिसने बडे साहस के साथ हेबेल के पदचिह्नो पर चल-कर मानव के अचेतन मे सक्रिय सघर्षों का यथाथ रूप समझने के लिए स्वप्न-

1 G W Allport Personality A Psychological Interpretation p 395 (Footnote) The following novels of character are samples of literary writing containing valuable psychological lessons for the student of personality '

विश्लेषण की प्रणाली को वैज्ञानिक रूप दिया और इसे मनोविश्लेषण की प्रणाली का अनिवार्य अग ठहरा दिया।

फ्रॉयडवादी मनोविश्लेषको का विश्वास है कि प्रत्येक स्वप्न का एक अर्थ होता है। स्वप्न का अर्थ ही स्वप्न का कारण होता है।[1] इसलिए, स्वप्न का अर्थ जान लेने पर स्वप्नो के कारण पता चल जाता है जो व्यक्ति के अचेतन मे उथल पुथल मचाकर उसे बेचैन किए रखता है। उनका कहना है कि हमारे अचेतन सघर्ष के वे कारण जो जाग्रतावस्था में चेतन मन मे नही आ पाते, बहुधा हमारे स्वप्नो मे अभिव्यक्ति पा जाया करते है और वे कारण यदि इतने दुखद या असामाजिक हो कि सुषुप्तावस्था मे भी व अपने मूल रूप मे हमारे अन्तर्विवेक (कान्शयन्स) को स्वीकार्य न हो, तो वे स्वप्न मे रूप बदलकर ही आया करते हैं। रूप बदलने की प्रक्रिया स्वप्न-सघटन (ड्रीम मैकेनिज्म) कहलाती है। इन स्वप्न सघटनो के सहारे उपन्यासकार अपने पात्रो के उन अचेतन प्रेरको को प्रकाश मे लाता है जो अजाने मे ही उनके विचार और व्यवहार को प्रभावित करके किसी भी स्थिति मे उनका मानसिक सन्तुलन नही बैठने देते। स्वप्न-सघटन मुख्य रूप से पाच प्रकार के माने जाते हैं—1 सघनन (कडेंसेशन), 2 विस्थापन (डिस्प्लेसमेंट), 3 नाटकीकरण (ड्रैमेटाइजेशन), 4 प्रतीकीकरण (सिम्बालाइजेशन) तथा 5 स्वप्नोत्तर विस्तार (सेकडरी इलेबोरेशन)।

अज्ञेय के उपन्यास 'नदी के द्वीप' की रेखा का कहना है कि 'सपनो के सिर पैर नही होते। होते भी हो, जसा मनोविश्लेषक बताते हैं, तो उनका अर्थ जानने की जरूरत नही होती।' अज्ञेय के पात्रो को भले ही अपने स्वप्नो के अर्थ जानने की जरूरत न हो पर उन्हें अच्छी तरह समझने के लिए पाठकों को उनके स्वप्नों मे निहित गूढ अर्थ को जानना ही होगा—वे स्वप्न चाहे कितने ही बेसिर पैर के हो। अज्ञेय ने मनोविज्ञान की अधुनातन खोजो के सहारे अपने पात्रो के स्वप्नो के माध्यम से भी उनकी मानसिक गुत्थियो को उघाडने का प्रयत्न किया है। अपने उपन्यासो मे उन्होने पात्रो की मनोग्रथियो को प्रकाश मे लाने के लिए लगभग सभी प्रकार के स्वप्न सघटनो का प्रयोग किया है।

सघनन (कडेंन्सेशन)

अनेक प्रकार के विचारो, शब्दो और व्यक्तियो से सम्बन्धित दमित भावनाएँ जब स्वप्न मे इस प्रकार विकृत होकर प्रकट हो कि वे सब घुल मिलकर एक से ही सम्बन्धित हो जाएँ तब उसे ऐसा रूप देने वाली प्रक्रिया को सघनन कहते

1 Frink, 'Morbid Fears and Compulsions', p 19 22
"The meaning of the dream is the cause of dream.

हैं।[1] 'शेखर एक जीवनी' मे शेखर द्वारा उद्धृत वह स्वप्न जो उसने उस दिन रात मे देखा था जब छोटे भाई चन्द्र को पेंसिल न देने के अपराध मे उसकी माँ ने उसका हाथ मेज पर रखकर पहले घूसे से और फिर पट्टी के सिरे से पीटा था, इसी स्वप्न-सघटन की उपज है। उस दिन शेखर ने पीडा और अपनी विवशता पर क्रोध को न सह पाते हुए कहा था कि 'नही दूगा, कह दिया नही दूगा, चाहे जान से मार डालो।' उस दिन शेखर ने खाना नही खाया था, न किसी ने उसको पूछा ही। रात हुई, सब सो गए, तब वह भी थका हुआ-सा चारपाई पर लेट गया और अन्धकार को फोडने की चेष्टा करता रहा। कुछ देर बाद चुपके से सरस्वती आई शेखर ने उसकी गोद मे अपना सिर रख दिया। अब आसू आए। सरस्वती ने उसका सिर उठाकर धीरे से तकिये पर रख दिया। रात को उसने जो स्वप्न देखा, वह इस प्रकार था—

"एक विस्तीर्ण मरुस्थल। दुपहर की कडकती हुई धूप। शेखर एक ऊँट पर सवार उस मरुस्थल को चीरता हुआ भागा जा रहा है। भागा जा रहा है सवेरे से, या कि पिछली रात से, वह जैसे भागा जा रहा है।

—और उसके पीछे कोई आ रहा है। शेखर को नही मालूम कि कौन, लेकिन वह जानता है कि कोई पीछा कर रहा है और कभी वह मुडकर देखता है, तो पीछे बहुत से ऊँटो के पैरो से उडती धूल उसे दीखती है

तीसरा पहर? धूप कम नही हुई और भी तीखी हो गई जान पडती है और शेखर भागता जा रहा है, और उसके पीछे वह 'कुछ' भी बढा आ रहा है।

एकाएक, सामने सेब के वृक्षो का बाग, जिसके चारो ओर मिट्टी की ऊँची बाड लगी हुई है, जिसमे कही-कहीं बिलें हैं, और कही-कही आयरिस-जैसा कोई पौधा है। शेखर ऊँट पर से उतरकर, बाड पार करके बाग मे घुस जाता है।

बाग मे वृक्ष फूलो से लदे हुए है। इतने अधिक लदे है, कि सारी ज़मीन पर भी फूल बिछे हैं, और वह बिलकुल शुभ्र हो रही है—

शेखर थकी साँस लेकर एक पेड के नीचे फूलो की शय्या पर लेटता है और सो जाता है सध्या। सारा आकाश आरक्त हो गया है। प्रतिबिम्बित लाली से भूमि भी लाल जान पडती है और सेब के वृक्ष मानो जगली गुलाब हो गए हैं—प्रत्येक फूल ऐसा सुन्दर लालिम हो गया है

शेखर उठ बैठा है। खतरे का आतक उस पर फिर छा गया है। वह जानता है कि उस 'कुछ' ने वह बाग घेर लिया है और उसमे प्रवेश करने की ताक मे है और उसके ऊँटो के पैरो से उडी धूल चारो ओर छाई हुई है उससे आकाश भरा जा रहा है

---

1 Freud 'Interpretation of Dreams', p 270

विश्लेषण की प्रणाली को वैज्ञानिक रूप दिया और इसे मनोविश्लेषण की प्रणाली का अनिवार्य अंग ठहरा दिया।

फ्रॉयडवादी मनोविश्लेषकों का विश्वास है कि प्रत्येक स्वप्न का एक अर्थ होता है। स्वप्न का अर्थ ही स्वप्न का कारण होता है।[1] इसलिए स्वप्न का अर्थ जान लेने पर स्वप्नों के कारण पता चल जाता है जो व्यक्ति के अचेतन में उथल पुथल मचाकर उसे बेचैन किए रखता है। उनका कहना है कि हमारे अचेतन सभय के वे कारण जो जाग्रतावस्था में चेतन मन में नहीं आ पाते, बहुधा हमारे स्वप्नों में अभिव्यक्ति पा जाया करते हैं और वे कारण यदि इतने दुखद या असामाजिक हों कि सुषुप्तावस्था में भी वे अपने मूल रूप में हमारे अन्तर्विवेक (कान्शन्स) को स्वीकार्य न हों, तो वे स्वप्न में रूप बदलकर ही आया करते हैं। रूप बदलने की प्रक्रिया स्वप्न-सघटन (ड्रीम मैकेनिज्म) कहलाती है। इन स्वप्न सघटनों के सहारे उपन्यासकार अपने पात्रों के उन अचेतन प्रेरकों को प्रकाश में लाता है जो अजाने में ही उनके विचार और व्यवहार को प्रभावित करके किसी भी स्थिति में उनका मानसिक सन्तुलन नहीं बैठने देते। स्वप्न-सघटन मुख्य रूप से पांच प्रकार के माने जाते हैं—1 सघनन (कडेंसेशन), 2 विस्थापन (डिस्प्लेसमेंट), 3 नाटकीकरण (ड्रमटाइज़ेशन), 4 प्रतीकीकरण (सिम्बालाइज़ेशन) तथा 5 स्वप्नोत्तर विस्तार (सेकण्डरी इलेबोरेशन)।

अज्ञेय के उपन्यास 'नदी के द्वीप' की रेखा का कहना है कि 'सपनों के सिर पैर नहीं होते। होते भी हों, जैसा मनोविश्लेषक बताते हैं तो उनका अर्थ जानने की जरूरत नहीं होती।' अज्ञेय के पात्रों को भले ही अपने स्वप्नों के अर्थ जानने की जरूरत न हो पर उन्हें अच्छी तरह समझने के लिए पाठकों को उनके स्वप्नों में निहित गूढ़ अर्थ को जानना ही होगा—वे स्वप्न चाहे कितने ही बेसिर-पैर के हों। अज्ञेय ने मनोविज्ञान की अद्यतन खोजों के सहारे अपने पात्रों के स्वप्नों के माध्यम से भी उनकी मानसिक गुत्थियों को उघाड़ने का प्रयत्न किया है। अपने उपन्यासों में उन्होंने पात्रों की मनोग्रंथियों को प्रकाश में लाने के लिए लगभग सभी प्रकार के स्वप्नों सघटनों का प्रयोग किया है।

सघनन (कडेंसेशन)

अनेक प्रकार के विचारों, शब्दों और व्यक्तियों से सम्बन्धित दमित भावनाएँ जब स्वप्न में इस प्रकार विकृत होकर प्रकट हों कि वे सब घुल मिलकर एक से ही सम्बन्धित हो जाएँ, तब उसे ऐसा रूप देने वाली प्रक्रिया को सघनन कहते

1 Frink, Morbid Fears and Compulsions, p 19-22
'The meaning of the dream is the cause of dream'

हैं।[1] 'शेखर एक जीवनी' में शेखर द्वारा उद्धृत वह स्वप्न जो उसने उस दिन रात म देखा था जब छोटे भाई चन्द्र को पेंसिल न देने के अपराध में उसकी माँ न उसका हाथ मेज पर रखकर पहले घूसे से और फिर पट्टी के सिरे से पीटा था, इसी स्वप्न-संघटन की उपज है। उस दिन शेखर ने पीड़ा और अपनी विवशता पर क्रोध को न सह पाते हुए कहा था कि 'नहीं दूगा, कह दिया नहीं दूगा, चाहे जान से मार डालो।' उस दिन शेखर ने खाना नहीं खाया था, न किसी न उसको पूछा ही। रात हुई, सब सो गए, तब वह भी थका हुआ-सा चारपाई पर लेट गया और अधकार को फोडने की चेष्टा करता रहा। कुछ देर बाद चुपके से सरस्वती आई शेखर ने उसकी गोद में अपना सिर रख दिया। अब आँसू आए। सरस्वती न उसका सिर उठाकर धीरे से तकिये पर रख दिया। रात को उसने जो स्वप्न देखा, वह इस प्रकार था—

"एक विस्तीर्ण मरुस्थल। दुपहर की कड़कती हुई धूप। शेखर एक ऊँट पर सवार उस मरुस्थल को चीरता हुआ भागा जा रहा है। भागा जा रहा है सवेरे से या कि पिछली रात से, वह जैसे भागा जा रहा है।

—और उसके पीछे कोई आ रहा है। शेखर को नहीं मालूम कि कौन, लेकिन वह जानता है कि कोई पीछा कर रहा है और कभी वह मुड़कर देखता है, तो पीछे बहुत से ऊँटों के पैरों से उड़ती धूल उसे दीखती है

तीसरा पहर? धूप कम नहीं हुई और भी तीखी हो गई जान पड़ती है और शेखर भागता जा रहा है, और उसके पीछे वह 'कुछ' भी बढ़ा आ रहा है।

एकाएक, सामने सेब के वृक्षों का बाग, जिसके चारों ओर मिट्टी की ऊँची बाड़ लगी हुई है, जिसमें कहीं-कहीं बिलें हैं, और कहीं-कहीं आयरिस-जैसा कोई पौधा है। शेखर ऊँट पर से उतरकर, बाड़ पार करके बाग में घुस जाता है।

बाग में वृक्ष फूलों से लदे हुए हैं। इतने अधिक लदे हैं, कि सारी जमीन पर भी फूल बिछे हैं, और वह बिलकुल शुभ्र हो रही है—

शेखर थकी साँस लेकर एक पेड़ के नीचे फूलों की शय्या पर लेटता है और सो जाता है सध्या। सारा आकाश आरक्त हो गया है। प्रतिबिम्बित लाली म भूमि भी लाल जान पड़ती है और सेब के वृक्ष मानो जगली गुलाब हो गए हैं—प्रत्येक फूल ऐसा सुदर लालिम हो गया है

शेखर उठ बैठा है। खतरे का आतक उस पर फिर छा गया है। वह जानता है कि उस 'कुछ' ने वह बाग घेर लिया है और उसमे प्रवेश करने की ताक मे है और उसके ऊँटों के पैरों से उड़ी धूल चारों ओर छाई हुई है उससे आकाश भरा जा रहा है

1 Freud 'Interpretation of Dreams, p 270

शेखर उठकर एक ओर को भागता है, बाग में से निकल जाता है। पथरीला रास्ता, चढाई। शेखर चढता जा रहा है। यह 'कुछ' पीछे रह गया है, लेकिन शेखर को बहुत आगे जाना है—बहुत आगे किसी खोज मे यद्यपि वह नही जानता कि किस वस्तु की खोज

सध्या घनी हो जाती है। शेखर अब भी चल रहा है। वह प्यासा है, पर पानी कही दीखता नही। हाँ, दूर कही झरने का रव हो रहा है। एक चट्टान के ऊपर चढकर शेखर आगे देखता है और एकाएक रुक जाता है।

सामने नीचे थहराता हुआ एक पहाडी झरना बह रहा है। शुभ्र स्वच्छ निर्मल

शेखर घुटने टेककर बैठता है और हाथ टेककर उझककर सिर नीचे लटकाता है, जैसे वन्य पशु पानी पीने के लिए करते हैं। पर पानी बहुत नीचे है और वह उस तक पहुँचता नही

उसके हाथ पर सरस्वती का हाथ है। वह भी उसके पास उसी तरह घुटने टेके बैठी है यद्यपि अभी तक वहाँ नही थी। और दोनो प्यासी आँखो से पानी की ओर देख रहे है

शेखर देखता है, पानी के मध्य मे प्रवाह से किसी प्रकार भी प्रभावित न होता हुआ, पतले से नाल पर एक अकेला फूल खडा है। बहुत बडा—लिपटी हुई सी एक ही बडी, सफेद पत्ती, जिसके बीच-बीच मे तपे सोने-से वर्ण की एक डडी (पिस्टल) है।

और देखते देखते, एक दिव्य शांति उसके ऊपर छा जाती है, और वह जानता है कि यही है, जिसे खोजने वह आया था, जिसके लिए वह भाग रहा था और वह शांति इतनी भरपूर है कि शेखर को रोमाच हो आता है, वह दबाकर सरस्वती का हाथ पकड लेता है।

वह जाग पडा। स्वप्न इतना सजीव, इतना यथार्थ था, कि शेखर ने हाथ बढाया कि सरस्वती का हाथ पकडे। वह उसने नही पाया।

तब वह चारपाई पर उठ बैठा। इधर-उधर देखा। उठकर सरस्वती की चारपाई के पास गया। जब वह सोई हुई थी।

शेखर ने उसका मुख देखने की चेष्टा की, पर देख नही सका। लौट आया, एक सन्तुष्ट-सी साँस लेकर लेट गया और फौरन निःस्वप्न नींद मे अचेत हो गया।" (पहला भाग, पृ० 143-144)।

इस स्वप्न मे शेखर के गत जीवन के अनेक भाव, विचार और अनुभूतियाँ तथा कई दृश्य मिलकर एकाकार हो गए हैं। इसमे शेखर के जीवन का कटु यथार्थ मरुस्थल के रूप मे प्रकट हुआ है और उसका वह ऊँट के रूप मे, जिस पर

चढकर वह उस मरुस्थल को चीरता हुआ भागा जा रहा है। उसका पीछा करने वाला 'कुछ' उसके माँ बाप और अन्य लोगो के अह है। जो उसे घेरकर उसका समाजीकरण करना चाहते है। इस मरुस्थल मे उसे केवल एक ही शकल दिखाई देती है और वह है सरस्वती। शेखर प्यासा ही भागता चला जा रहा है। उसकी प्यास 'सैक्स' की प्यास है, जिसे वह बुझाना चाहता है। पर झरने के पास पहुँच कर भी वह अपनी प्यास नही बुझा सका है। उसके हाथ पर सरस्वती का हाथ है और वे दोनो प्यासी आँखो से पानी की ओर देख रहे है। एक-दूसरे के निकटतम होने पर भी दोनो प्यासे ही रह जाते है। जल रूपी 'सैक्स' तृप्ति को वे पा नही सकते, वे सगे बहन-भाई हैं, शायद इसीलिए।

इस स्वप्न मे वर्णित दृश्य भी भिन्न भिन्न समय पर शेखर द्वारा जागृतावस्था म देखे हुए अनेक दृश्यो के विकृत रूप हैं। उदाहरणार्थ, स्वप्न के इस विकृत दृश्य कि 'सामने सेब के वृक्षो का बाग, जिसके चारो ओर मिट्टी की ऊँची बाड लगी है, जिसमे कही कही आयरिस जैसा कोई पौधा है, मूल रूप इस प्रकार है—अब दोनो (शेखर और सरस्वती) सबसे निकट की दीवार पर पहुँचे और कीच से बिलो का मुँह बन्द करने लगे। कभी-कभी वे साथ ही अपने प्रिय आयरिस के पौधे भी खीच लेते और उन्हे भी बिलो मे ठूसकर कीचड से दबा देते।' यहा यह स्मरण रहे कि इस मूल दृश्य का सम्बन्ध शेखर की उस अनुभूति से है, जिसम सरस्वती उसके मन मे एकाएक 'सरस्वती' से 'बहन' और 'बहन' से 'सरस' हो गई थी। (पहला भाग, 80 81)

विस्थापन (डिस्प्लेसमेट)

जागतावस्था मे किसी व्यक्ति के प्रति महसूस की हुई भावनाएँ जब स्वप्न मे उस व्यक्ति से हटकर किसी अन्य व्यक्ति स सम्बद्ध हो जाती हैं तब उस स्वप्न सघटन को विस्थापन कहते हैं।[1] 'शेखर एक जीवनी' मे इसका एक बडा अच्छा उदाहरण है। जिस दिन शेखर ने रुग्णा शाति के पास जाकर बडे आदर से डरते-डरते, अपना एक हाथ उसकी ठोडी के नीचे कठ पर रख दिया था और शेखर के हाथ पर टप से एक बडा-सा आँसू गिरा था और शेखर ने महसूस किया था कि उसके हाथ के नीचे शाति का कठ एक बार कुछ काँप गया था, उस रात स्वप्न मे शेखर ने देखा कि—'शारदा तपेदिक से आक्रात होकर मर रही है, वह उसके पास गया और शारदा उसे कह रही है—तुम मुझे भूल गए म, नहीं तो मैं मरती ? और उसके बडे-बडे गरम आँसू टपटप शेखर के हाथ पर झर रह हैं।' (पहला भाग, पृ० 195)। शेखर के इस स्वप्न मे पिछले दिन की उसकी

1 Dalbiez 'Psycho-analytical Method and the Doctrine of Freud' p 87

शांति सम्बन्धी समस्त अनुभूत सम्वेदनाएँ ही स्वप्न में विकृत होकर प्रकट हुई हैं। स्वप्न में उनका सम्बन्ध शांति से टूटकर शारदा से गँठ गया है। पिछर ग्नि तपेदिक से आक्रांत शान्ति । उसके साथ जो कुछ किया था, स्वप्न में वही कुछ शारदा उसके साथ करती है।

इस स्वप्न में शेखर की भावनाओं का विस्थापित होना एक स्पष्ट संकेत है कि शांति के प्रति शेखर के आकर्षण के कारण शेखर के अंतर्विवेक ने उसे अपराधी ठहराया था, क्योंकि शारदा के प्रति उसका सच्चा प्रेम शान्ति की ओर उमड़ पड़ा था। यद्यपि चेतन में शेखर को शांति के इस आश्वासन प्रदान से संतुष्टि हुई थी, अचेतन में उसका अंतर्विवेक इस स्थिति को स्वीकार करने के लिए तैयार न था। उसके अचेतन में जो संघर्ष छिड़ गया था उसने स्वप्न में शेखर की सच्ची प्रेम भावना को शारदा से ही गाँठना स्वीकार किया। फ्रायड का विश्वास है कि जागृतावस्था की अनुभूतियों का स्वप्न में इस प्रकार का विस्थापन अंतर विवेक द्वारा ही प्रेरित होता है, क्योंकि जागृतावस्था की क्रिया उसे स्वीकार नहीं होती। स्वप्न के बाद शेखर का उठ बैठना और देखना कि उसका सारा शरीर काँप रहा है, अ प्रकार मानो उसे काटने लगा है और फिर सप्ताह भर उसका शांति को देखने न जाना तथा दिन भर अपने कमरे के किवाड़ बन्द करके बैठे रहना भी उसकी सेक्स भावना और अंतर्विवेक के उसी संघर्ष को ध्वनित करते हैं जिसकी अभिव्यक्ति इस स्वप्न में हुई है।

नाटकीकरण (ड्रैमेटाइज़ेशन)

जब जाग्रतावस्था के भाव व विचार में छायाचित्रों में बदलकर प्रकट होते हैं और चलचित्र के समान आँखों के सामने नाच उठते हैं, तो उस संघटन को नाटकीकरण कहते हैं। 'शेखर : एक जीवनी' के दूसरे भाग (पृ० 27 28) में इस प्रकार का उदाहरण वह स्वप्न है जो शेखर ने कश्मीर की ऊँचाइयों में सौंदर्य की खोज में भटकते हुए देखा था। कश्मीर-यात्रा की अंतिम रात को वह अपने खेमे में कुछ खा-पीकर लेटा हुआ था, वह बहुत थक गया था, इतना थक गया था कि उसे नींद भी न आई—वह लेटा-लेटा सोचने लगा— कैसा मूर्ख है वह, क्या और भी कोई ऐसे सौन्दर्य की खोज में निकला होगा? कहानियाँ में अवश्य सुनते थे लेकिन कभी किसी ने यह सिद्ध करने की कोशिश की, कि वे कहानियाँ सच हैं? 'कहानी' और 'यथार्थ' ये दो अलग श्रेणियाँ हैं यह ज्ञान छोटे से बालक के मन में भी बैठा दिया जाता है वही एक मूर्ख ऐसा है कि नहीं समझ पाया यथार्थ जीवन में रहकर जीवन की चीज पकड़ना चाहता है—क्यों न लोग उस पर हँसें? उसे मूर्ख समझें? घर पर नगर की गन्दगी और कोलाहल से घिरी हुई उसकी स्त्री भी उस पर हँसती होगी कि मूर्ख शादी करके

सौन्दर्य की खोज करने चला है।' यह सोचते-सोचते वह सो गया और स्वप्न में उसने देखा—'एक काली चट्टान की गोल-गोल आखें उस पर टिकी हैं। वह चट्टान कह रही है, तुमने बहुत अच्छा किया जो सौन्दर्य की खोज में चले आए मेरे पास।' और फिर वह एकाएक उसकी स्त्री में परिणत हो गई जो ठठाकर हँस पड़ी। इसके बाद वह उठकर बाहर निकल आया और धीरे धीरे कई दृश्य उसकी आखों के सामने से गुजर गए।

इस स्वप्न में जाग्रतावस्था के भाव और विचार ठोस चट्टान के रूप में प्रकट हुए, जिसका सम्बन्ध उसकी सौन्दर्य की खोज से ही रहा। शेखर जब जाग्रतावस्था में अपनी स्त्री (कल्पित) के सम्बन्ध में सोच ही रहा था कि वह उसकी मूर्खता पर हँसती होगी, पर स्वप्न में वह चट्टान ही उसकी स्त्री के रूप में परिणत होकर उस पर हँसने लगी। इस प्रकार, जाग्रतावस्था के भाव उसके स्वप्न में छायाचित्रों के रूप में प्रकट होते हैं।

प्रतीकीकरण (सिम्बॉलाइज़ेशन)

जब अचेतन में गहरी धँसी हुई व्यक्तियों या घटनाओं से सम्बन्धित अनुभूतियाँ स्वप्न में अपने अविकृत रूप में न प्रकट होकर प्रतीकों के रूप में व्यक्त होती हैं, तब उस प्रक्रिया को 'प्रतीकीकरण' कहते हैं। नाटकीकरण और प्रतीकीकरण में अन्तर यह है कि पहले प्रकार के स्वप्न में भाव या विचार ठोस वस्तुओं में बदलते हैं, पर प्रतीकीकरण में या तो भाव भावों में बदलते हैं या वस्तु वस्तुओं में।[1] 'नदी के द्वीप' में भुवन के फौज में भर्ती हो जाने की सूचना पाने के पश्चात् रेखा जो स्वप्न देखती है, उसमें उसके भीतर छिपे सन्देह और शकाएँ प्रतीकों द्वारा प्रकट होती हैं। भुवन को लिखे एक पत्र में रेखा अपने स्वप्न का ब्योरा इस प्रकार देती है—

'देखा कि तुम हमारे घर आए हो हमारे घर, मेरे माता पिता और छोटे भाई सबकी उपस्थिति में, और सबसे मिले हो, पिता तुम्हें बाहर नदी के किनारे की रौंस पर मेरे पास बठा गए हैं, फिर हम लोग कागज की नावें बनाकर नदी में डालते हैं और उनका बह जाना देखते हैं। नावें कभी दूर-दूर तक चली जाती हैं कभी पास आ जाती हैं कभी टकरा भी जाती हैं, कभी नदी में बहते हुए सैवाल में उलझ जाती हैं। सहसा देखती हूँ कि उन्हीं हमारी कागज की नावों में हम भी बैठे हैं रौंस पर बैठे देख भी रहे हैं, पर नावों में भी हैं, फिर नावें एक बालू के द्वीप में जा लगती हैं जहाँ हम उतरकर नावों को खींचने लगते हैं पर नावों में बैठे भी रहते हैं। अब हम रौंस पर से देखते भी हैं, नावों में बैठे भी हैं, नावों

को खीच भी रहे हैं। फिर देखती हूँ, बहुत से द्वीप हैं, हर एक पर हम नाव में भी बैठे नाव को खीच भी रहे हैं और रौंस पर बैठे हुए तो रह ही हैं। सहसा नदी का पानी बहती हुई बालू हो जाता है, और तुम्हारा चेहरा तुम्हारा नहीं, कोई और चेहरा है, तुम मुस्कराते हो तो वह चेहरा तुम्हारा भी है, पर नहीं भी है, मैं कहती हूँ यह सपना है, जागेंगे तो तुम्हारा चेहरा दूसरा हो जाएगा, तुम कहते हो सपना थोड़ी देर और देखो न, फिर चेहरा बदल नहीं सकेगा। फिर मैं तुम्हारी मुस्कान देखती रही, थोड़ी देर मे जाग गई। पर मैं जागी एक मधुर भाव लेकर, फिर ध्यान आया कि तुम तो बर्मा में होगे।" (पृ० 414-15)

इस स्वप्न में रेखा के पिता का भुवन को बाहर नदी के किनारे के रौंस पर बैठा जाना रेखा की इस इच्छा को व्यक्त करता है कि काश भुवन के साथ उसके यौन सम्बन्धों को सामाजिक मान्यता मिल सकती। सामाजिक मान्यता के अभाव में ही रेखा ने दोनों के यौन सम्बन्ध से उत्पन्न 'वायलिनिस्ट सजन' का उत्पन्न होने से पहले ही गिरा दिया था। रेखा और भुवन का कागज की नाव पर बैठना रेखा के अचेतन में व्याप्त इस आशंका का प्रतीक है कि उन दोनों के सम्बन्धों की नींव कच्ची है और वे सम्बन्ध अधिक देर तक नहीं चल सकते। स्वप्न में सहसा नदी के पानी का बहती हुई बालू हो जाना, उनके पारस्परिक सम्बन्धों के नीरस हो जाने का प्रतीक है। भुवन के चेहरे का बदलकर किसी और का चेहरा बन जाना प्रतीक है रेखा के प्रति भुवन के बदले हुए रुख का। इस प्रकार प्रतीकों द्वारा इस स्वप्न में रेखा की उन भीतरी आशंकाओं को अभिव्यक्ति मिली जिनके अस्तित्व तक से वह जाग्रतावस्था में इन्कार कर देती है। स्वप्न देखने के काफी देर बाद उपर्युक्त पत्र लिखते समय रेखा ने स्मृति और कल्पना के योग से विभिन्न खंडों को जो क्रम दिया वह स्वप्नोत्तर विस्तार की प्रक्रिया के कारण ही सम्भव हुआ।

इस प्रकार स्वप्न के विषय में मनोविज्ञान की अधुनातन खोजों के सहारे अज्ञेय अपने औपन्यासिक पात्रों के अचेतन में व्याप्त परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के उस संघर्ष को व्यक्त कर देते हैं जो उन्हें निरन्तर विचलित करके उनका संतुलन बिगाड़े रखता है और किसी भी व्यक्ति अथवा परिस्थिति से उनका मेल नहीं बैठने देता।

आदिम सुगन्धो के शिलालेख

भवानी प्रसाद मिश्र जितने सरल दिखते थे उतनी ही सरल लगती है उन कविता। पर दोनो की सरलता इतनी तरल है कि पकडते पकडते हाथ से नि जाए और गहरी इतनो कि उसकी थाह ही न मिले, जितना भी गहरे उ लगे कि उससे भी अधिक गहरी है। भवानी भाई—यह सबोधन उन्हे सर्वा प्रिय था—उन कवियो म नही थे जो अपने को औरो से भिन्न और असाधा समझते हुए व्यक्ति और अभिव्यक्ति की धाक जमाने मे ही कवि कम की मान लेते हैं। उनके व्यक्ति की निश्छलता जिस प्रकार उनके मोटे झोटे खा परिधान के बावजूद दूसरो के मन को मोह लेती थी, उसी प्रकार उनकी कवि की सादगी पाठको को चौंकाए बिना उनके भीतर तक उतर जाती थी। वि किसी लाग-लपट के बोलचाल की सरल सहज भाषा म बडी से बडी और ग से गहरी बात इस प्रकार कह देना कि वह असाधारण नही, साधारण और जा पहचानी लगे, शुरु से ही उनकी कविता का मूल मत्र बन गया था "मन कसव/निछक औ नगी/ बिन कपडे/बिन गहने पहना।" असाधारण का भ्र तो उनके व्यक्ति ने पाला था और न उनकी कविता ने ही।

उनकी नियमित काव्य यात्रा लगभग सन 1930 स आरम्भ हुई थी, य कुछ कविताएँ तो प० ईश्वरी प्रसाद के सपादन म कलकत्ता से निकलने वाले पत्र' मे हाई स्कूल पास करने से पहले ही प्रकाशित हो गई थी। पर बहुत तक वे प्रकाशन के प्रति सचेष्ट नही रहे। प० माखनलाल चतुर्वेदी से उनका प चय सन 1932-33 मे हुआ। उन्होने भवानी भाई की कई कविताएँ 'कर्मवी मे साग्रह छापी। प्रभातचन्द्र शर्मा के पत्र 'आगामी कल' मे भी उनकी रच प्रकाशित हुई जिन्हें पढ कर अज्ञेय का ध्यान मिश्र जी की ओर गया औ पहले सप्तक' मे उन्हें सम्मिलित करना चाहते थे। पर तब भवानी भाई जेल बन्द थे सन बयालीस के 'भारत छोडो आन्दोलन मे भाग लेने के कारण। लिए वे दूसरे सप्तक मे ही आ पाए। दो वर्ष, आठ महीने और आठ दिन कैद काट कर सन 1945 मे जेल से मुक्त हुए तो उनका परिचय अमृत राय

हुआ और 'हंस' में उनकी रचनाएँ प्रकाशित होने लगी। दूसरे सप्तक के प्रकाशन के बाद उनका प्रकाशन कुछ पटरी पर आया। पहला संग्रह 'गीतफरोश' सन 1953 में निकला। फिर आया 'चकित है दुख' और और सन 1968 मे 'अँधेरी कविताएँ'। ये मृत्यु से साक्षात्कार की कविताएँ हैं, 'पेसमेकर' लगने के समय की कविताएँ। दिल की बीमारी होने के बाद मिश्र जी को निरंतर यह चिंता सताने लगी कि उनकी कविताएँ यही पड़ी न रह जाएँ। इसलिए वे प्रयत्नशील रहे कि वर्ष दो वर्ष में एक कविता संग्रह जरूर निकल जाए। इस तरह 'गांधी पंचशती' नामक संग्रह निकला सन 1969 में और 'बुनी हुई रस्सी' 1971 में। इस पुस्तक पर व सन 1972 के साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित हुए। फिर 1974-75 में आया 'खुशबू के शिलालेख' नामक काव्य-संग्रह जिसमें उनकी लम्बी कविताएँ संकलित हैं। इमरजेंसी पर उनकी कविताएं 'त्रिकाल संध्या' में संगृहीत हैं।

भवानी भाई ने संपादन-कार्य भी खूब किया। उन्होंने सन् 1947 से 49 तक 'विचार' का, सन 1953 से 55 तक 'कल्पना' का, 1958 से 1972 तक 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय' के अनेक खंडों का, 1973 से 75 तक 'भूदान योजना' 'सर्वोदय' और 'गांधी मार्ग' का सम्पादन किया।

मिश्र जी का जन्म 29 मार्च, 1913 को टिगरिया गांव में हुआ जो मध्य-प्रदेश के होशंगाबाद जिले की सिवनी तहसील में है। उनके पितामह बुन्देलखंड के हमीरपुर नामक कस्बे से मध्यप्रदेश में आ बसे थे। वे बड़े नैष्ठिक ब्राह्मण थे। उनकी आजीविका मंदिर में पूजा करने से चलती थी। उनके पांच बेटे थे और एक बेटी। भवानी भाई के पिता पं० सीताराम भाइयों में सबसे छोटे थे। पहले तीन भाइयों को संस्कृत का ही अभ्यास कराया गया और वे पैतृक गांव में पूजा अर्चना और कथा वाचन से अपनी आजीविका चलाते रहे। पर छोटे दोनों भाई होशंगाबाद के अंग्रेजी स्कूल में पढ़े और मैट्रिक पास कर सरकारी नौकरी पा गए। भवानी भाई की पढ़ाई भी अंग्रेजी स्कूलों में हुई तथा सोहागपुर, होशंगाबाद, नरसिंहपुर और जबलपुर में पढ़ते हुए उन्होंने सन 1934 35 में बी०ए० पास कर लिया। सरकारी नौकरी के डर से वे आगे नहीं पढ़े और गांधीजी के विचारों के अनुसार शिक्षा देने के लिए स्वयं एक पाठशाला खोल ली। उसे चलाते हुए ही वे सन् बयालीस के आंदोलन में गिरफ्तार हुए। सन पैंतालीस में जेल से छूटे तो उसी वर्ष वर्धा महिलाश्रम में शिक्षक के रूप में चले गये और चार-पांच वर्ष वहीं रहे। फिर सन 1950 से 51 तक राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा में रहे। उसके बाद सन् 1955 तक हैदराबाद में प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'कल्पना' का सम्पादन किया। तत्पश्चात् आकाशवाणी से सम्बद्ध होकर सन 1957-58 में बम्बई और दिल्ली में रहे। दिल्ली में ही वे सन् 1958 से

72 तक सपूण गाधी वाङमय के सम्पादन से जुडे रहे। वहा से सेवानिवृत्त होकर गाधी शांति प्रतिष्ठान, गाधी स्मारक निधि और सर्वसेवा सघ से सम्बद्ध रहे।

यह तो हुई उनकी सामान्य जीवन यात्रा। पर जहा तक उनकी काव्य यात्रा का सम्बन्ध है, इसमे सन्देह नही कि उनके भीतर बीज रूप मे छिपी काव्य-प्रतिभा को अकुरित और पल्लवित करने मे उस युग की राष्ट्रीय चेतना के अतिरिक्त प्रभात फेरियो और कवि सम्मेलन का विशेष हाथ रहा। उन्ही के माध्यम से वे जनसाधारण के सम्पर्क मे आए और बोलचाल की भाषा उनकी काव्य भाषा बन गई। जिस तरह हम बोलते है उस तरह तू लिख —यह आत्मनिर्देश उसी पृष्ठभूमि की देन था। उनकी पहली रचना एक प्रभात फेरी से ही उपजी थी। यह बात स्वय उन्होने एक चर्चा के दौरान मुझे बताई थी "मैं लिखना शुरू करूँ-करूँ तब तक महात्मा गाधी का सूरज भारत की समूची प्रकृति के प्राण बदलने मे जुट गया था। सहज समाजोन्मुख मेरे मन को कवियो की वाणी ने जितना रचा था उससे अधिक गाधी ने उसे उद्वेलित किया और अपनी सबसे पहली जो रचना मुझे याद आती है वह गाधी के चलाए हुए आन्दोलना के बीच मे ही लिखी गई थी। मैं उन दिनो होशगाबाद के हाई स्कूल मे पढता था। असहयोग आन्दोलन चल रहा था। रोज प्रभात फेरिया और जलूस निकलते थे। प्रभात-फेरियो मे भक्त कवियो के भजनो से लेकर स्थानीय कवियो तक के गीत गाए जाते थे, और उन सबमे आत्मदान की भावना होती थी। मध्यप्रदेश म उन दिनो नरसिंहदास अग्रवाल का जो गीत बहुत प्रचलित था, उसकी पहली पक्ति थी "रणभेरी बज चुकी, वीरवर, पहनो केसरिया बाना।" इसी मे कही ये दो पक्तियां भी आती हैं "माता के सच्चे पूतो की आज कसौटी होना है/देखें—कौन निकलता पीतल, कौन निकलता सोना है।" मैंने जिस प्रभात फेरी मे इसे पहले पहल सुना, उसी के बाद छात्रावास मे लौटकर ये दो पक्तियां लिख डाली 'मैं माता का पूत, कसौटी का कोई पत्थर ले आए/मुझमे ऐसी रेख खिचेगी जिससे सोना भी शरमाए।" कवि के रूप के रूप मे उनकी ख्याति को चार चाँद लगाने मे काव्य-गोष्ठियो का, कवि सम्मेलना का भी विशेष योग रहा। लोग उन्ह सुनने के लिए लालायित रहते थे और बार बार सुनने की फरमाइश करते थे। उन दिनो उनकी कुछ कविताएँ तो बहुत ही लोकप्रिय हुई था, जसे—'पोके फूट आज पिया के/पानी बरसे री', 'फूल लाया हूँ कमल के/क्या करूँ इनका' आदि। 'हस मे छपी उनकी कविताएँ सतपुडा के जगल' और 'स नाटा' भी खूब पसन्द की गई थी। 'गीतफरोश' का तो कहना ही क्या।

मिश्रजी काव्यारम्भ छायावादोत्तर काल म हुआ। उनके देखत देखत हिन्दी कविता प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता, अकविता आदि अनेक दौरो से गुजरी और उनके समकालीन हर दौर मे बह लिए। पर मिश्रजी युग के सभी

काव्या दोलना से दूर अपनी ही रौ मे बहते रहे और अपना रास्ता स्वय बनाते गए। एक बार मैंने उनसे पूछा कि वे अपने स्वतन्त्र विकास का श्रेय किसे देंगे तो बोले 'मैंने जिस समय लिखना प्रारम्भ किया उस समय मुख्य रूप म एक तरफ मथिलीशरण गुप्त सियारामशरण गुप्त, बालकृष्ण 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी आदि अलग-अलग ढग स लिखने वाले वे लोग थे जो अपने को आस पास के समाज और राष्ट्र से जुडा हुआ महसूस करते थे। दूसरी ओर जयशकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला, सुमित्रानन्दन पन्त आदि ऐसे कवि थे जिनके लिखने म व्यक्तित्व प्रधान था, सामाजिकता कम थी, पर उनकी कविताओ म भाषा का सौन्दय अपेक्षाकृत प्रधान था। मेरे मन पर उन कविताओ का असर ज्यादा होता था जिनका समाज के सुख दुख स ज्यादा सरोकार था। सक्षेप म यही कहूँगा कि मैं अपने युग की अनेक का धाराओ स अछूता नही रहा। समाज के प्रति अपने दायित्व भाषा की सरलता और अभिधा का प्राधान्य मैंने पुराने कवियो से लिया और व्यजना की जरूरत मैंने उस समय के छायावादी कवियो की कविता पढकर समझी, अर्थात श्रेय मेरे समूचे जमाने को और उससे भी अधिक समूचे जमाने को आगे बढाने वाले गाधीजी को है।' यही भाव मिश्रजी की एक कविता मे यो व्यक्त हुए हैं "बूद-बूद उमगा था/नदी हू अब न बूद मेरी थी न यह धारा/दूसरा का हूँ मै समूचा सारा।" अपनी दीर्घकालीन शब्द साधना के दौरान मिश्रजी इस निष्कर्ष पर पहुचे हैं 'शब्द का सही उपयोग योग है/ मनमाना उपयोग उसका भोग है/और विनाशकारी है भोग की तरह।'[1]

कविता साहित्यकार की सृष्टि है और साहित्यकार है उसका स्रष्टा। पर क्या कृति और कृतिकार का सृष्टि और स्रष्टा का ही नाता है इससे अधिक कुछ नही? क्या एसा नही हो सकता कि कृति को रचने के क्षणा मे साहित्यकार स्वय भी रचा जा रहा हो? मिश्रजी के सामने जब अपनी यह धारणा रखी तो वे बोले, 'मैंने अपनी सबसे बडी जिम्मेदारी इसी को माना है कि मेरे हाथो से जो कुछ कविता बनकर उतर गया उस मैं जीवन म भी उतारू। उदाहरण के लिए मेरी इन दो बहुत प्रसिद्ध पक्तियो को ले लीजिए जिस तरह हम बोलते हैं उस तरह तू लिख/और उसके बाद भी हमसे बडा तू दिख। इन पक्तियो ने मुझ पर एक जिम्मेदारी डाल दी कि मैं जो कुछ लिखू उस ढग के अनुकूल भाषा के आस पास रहकर लिखू और मेरा यह सवमान्य लिखना भी असामान्य मालूम पडे। यह कसे सम्भव है जबकि मैं अपनी कविता के हिसाब से चलना न सीखू। इसलिए कई बार मैं बहुत परेशान होता हूँ कि लोग लिखते एक बात हैं जीते दूसरी बात है। अर्थात उनके लिखने ने खुद उन्हें नही बदला है उन्ह नही गढा है। तब फिर यह हो सकता है कि उनका लिखना दूसरो को बदल या गढे।'

1-2 डा० रणवीर राग्रा, साहित्यिक साक्षात्कार पूर्वोदय प्रकाशन 1978 प० 230-32

व्यग्य मिश्रजी की कविता की जान था। वह ओढ़ा हुआ तेवर मात्र नहीं था, बल्कि उनके काव्य का प्राण था। बहुधा वे आत्म व्यंग्य का सहारा ले सभ्य समाज और व्यवस्था की विसंगतियों विकृतियों पर गहरी चोट करते थे। उनकी कविता 'जाहिल मेरे बान' उल्लेखनीय है ' मैं असभ्य हूँ क्योंकि खुले नंगे पांव चलता हूं / मैं असभ्य हूँ क्योंकि धूल की गोदी में पलता हूं / आप सभ्य हैं क्योंकि हवा में उड़ जाते हैं ऊपर / आप सभ्य हैं कि आग बरसा देते हैं भू पर। आप बड़े चिंतित हैं मेरे पिछड़ेपन के मारे/आप सोचते हैं कि सीखता यह भी ढंग हमारे / मैं उतारना नहीं चाहता जाहिल अपने बान / धोती कुरता बहुत जोर से लिपटाए हुए हूँ याने।" 'दरिंदा' नामक कविता लें—' दरिंदा आदमी की आवाज़ में/बोला / स्वागत में मैंने / अपना दरवाज़ा / खोला, और दरवाज़ा / खोलते ही समझा / कि देर हो गई / मानवता थोड़ी-बहुत जितनी भी थी / ढेर हो गई।" इस दृष्टि से उनकी कविता 'महारथी बेजोड़ है 'झूठ आज से नहीं/अनन्त काल से रथ पर सवार है / और सच चल रहा है/ पांव पाँव / क्रमशः बदली हैं / झूठ ने सवारियां / आज तो वह सुपर सानिक पर है / इतना ही हो सकता है कि किसी दिन / कि देखें हम / सच सुस्ता रहा है / थोड़ी देर छांव में / और सुपर सानिक किसी झंझट में पड़कर / जल रहा है।"

पर जब से मिश्रजी को दिल का रोग लगा, मृत्यु से कई बार उनका सामना हुआ। उन्होंने मृत्यु को निकट से देखा ही नहीं, बल्कि आंख में आंख डालकर उसे घूरा भी। तब से उनकी सृजनशीलता में भी ज्वार आ गया और एक के बाद एक कविता रचते जाने की उनकी ललक भी बढ़ गई—"ख़याल जो अभी / बना नहीं है / मन जो अभी / मना नहीं है / दुख जो अभी / घना नहीं है / शब्दों में कहना है / और कहना है अभी / ।" उनके कविता संग्रह 'चकित है दुख' की कुछ रचनाएँ, 'अँधेरी कविताएँ' की अधिकांश रचनाएं 'बुनी हुई रस्सी' और 'खुशबू के शिलालेख' की लगभग सभी कविताएं, मृत्यु से साक्षात्कार की रचनाएँ हैं और ऐसी मनःस्थिति की द्योतक भी जब व्यक्ति चेतना जीवन और मृत्यु में अभेद देखती हुई अखंड विराट चेतना में लीन होने की पुलक से भरकर नाच उठती है—"अभी जीवन छंद है / जानता हूँ / शरीर से छूट कर संगीत हो जाएगा यह / कंठ से छूटे स्वर की तरह।' 'बुनी हुई रस्सी' की 'आभार पहले तो' नामक कविता में—'आभार तो पहले भार था / उपराग तो अब लगा है / जब जीवन का बिम्ब / मृत्यु का प्रतिबिम्ब होकर / मन में ऐसा कुछ जगा है / कि आक्रान्त नहीं होना / बुद्धि और कल्पना की लहरें सब /थिर हैं / मृत्यु राजा हमारे सिर हैं।" उन्हें इस बात का आभास हो गया था कि अब वे अधिक दिन नहीं रहेंगे—"शीत से वसन्त जितना दूर है / बूंद से दूर है जितना/ पानी / या कहो/ दूर है फूल से जितना फल / "उतनी ही दूर है अब / मेरी देह से आग / आग से

राख / राख से गंगाजल।" उनकी कविता 'घुमक्कू ये शिलालेख' तब की मान सिकता को सही अभिव्यक्ति देती है—"अगर ठीक ढंग से / आदिम सुगंधों की/ वकालत कर पाया / तो मैंने सबकुछ भर पाया / तब सचमुच मुझे धन्य लगेंगे शब्दों के / मेरे देवताओं के / मुझे दिए हुए वरदान / आनन्द लगेंगे मुझे / मेरे ये /बचे खुचे दिन / जिनमें अब मैं / जल्दी उठ आता हूँ / और हजार वहानों से / उठकर फिर सोने तक / आदिम सुगंधों को गाता हूँ।" ये सब उनकी भीतरी अपरिहार्यता की कविताएँ हैं जो सहसा एक विराट सत्य से उनका साक्षात्कार करा देती हैं— 'दिन भर / जमी आभा / नहीं दी थी सूरज ने / डूबते डूबते / दी है उसने वैसी आभा / खिड़कियों को / मुझे लगता है / जीवन ने / कुछ ऐसा ही किया है / मेरे साथ।"

भीतरी अपरिहार्यता की बात छिड़ने पर एक बार उन्होंने मुझे बताया था कि ' 'बुनी हुई रस्सी' में मेरे किसी भी संग्रह के मुकाबले में अधिक अपरिहार्य कविताएँ संगृहीत हैं। मेरी प्रारम्भिक कविताओं की तरह उन दिनों मैं किसी भारी मार से व्याकुल नहीं था। एक बहुत पैनी तीखी, और प्रिय तक, अनी मुझे बराबर छेदती रहती थी। इस संग्रह की कविताएँ लगातार ब्राह्म मुहूर्त से पन्द्रह-बीस दिन तक लिखी गई कविताएँ हैं। निर्बल शरीर में प्राण कितना प्रबल हो सकता है, इसका उन दिनों मुझे बहुत ही सही अनुभव हुआ।" भवानी भाई के कवि और गुराजी दोनों रूप शुरू से ही एकमेक हो गए थे। इसीलिए उनकी कविता पाठकों के लिए उतनी नहीं थी जितनी श्रोताओं के लिए। कविता को पठनीय नहीं, श्रव्य बनाने में वे कोई कोर-कसर नहीं छोड़ते थे। उन्होंने स्वीकारा भी है— 'मैं जो लिखता हूँ उसे जब बोलकर देखता हूँ और बोली उसमें बजती नहीं है तो मैं पंक्तियों को हिलाता-डुलाता हूँ। बोलचाल की हिन्दी मेरी ताकत है।' उनकी काव्य भाषा कवि और श्रोता के बीच किसी प्रकार की औपचारिकता को टिकने नहीं देती। आडम्बरमुक्त सहजता उसका प्राण है, पर यह सहजता उन्हें सहज ही नहीं मिल गई। इसके लिए उन्होंने घोर साधना की जो बार बार उनकी कविता में झलक आती है— 'शरीर और फसलें/कविता और फूल, सब एक हैं/सबको बोना बिखरना पड़ता है। वे जानते हैं कि "जितना गहरा कूप खुदे उतना मीठा जल/आज नहीं कल।'

कविता की इसी सहज श्रव्यता ने उन्हें कवि-सम्मेलनों का सम्राट बना दिया था। उनका प्रभावशाली व्यक्तित्व सहज सुबोध कविता और उसे सुनाने का उनका अनोखा अंदाज—ये सब मिलकर ऐसा समां बाँध देते थे कि श्रोतागण मन्त्रमुग्ध होकर घंटों उनकी कविताओं का रसास्वादन करते रहते थे और वे अकेले भरे पूरे कवि-सम्मेलन का पूरा मजा दे देते थे। हिन्दी के श्रोताओं को मिश्रजी के अनेक मोहक काव्य-पाठों की याद होगी। पर मेरी स्मृति में इस समय जो

घटना उभर रही है और जो मुझे कभी कहीं भूलेगी वह है तीन चार वर्ष पहले स्वर्गीया महादेवी वर्मा के सम्मान में साहित्य अकादमी द्वारा यहां के त्रिवेणी सभागार में आयोजित एक विराट सम्मेलन। हाल दर्शकों से खचाखच भरा था और सबकी आंखें द्वार पर लगी थीं, महादेवीजी की प्रतीक्षा में। पर उन्होंने न आना था और न वे आईं ही। आयोजकों को इस बात का पता था पर उन्होंने इसे सबसे छिपाए रखा, सिवाय मंच पर बैठे दो एक साहित्यकारों के जिनमें भवानी भाई मुख्य थे। अज्ञेयजी दर्शकों की प्रथम पंक्ति में बैठे थे। उनसे मंच पर आने का अनुरोध किया गया तो उन्होंने अपने स्वभावानुसार नकारात्मक सिर हिला दिया और वहीं जमे रहे। सभा की कार्यवाही को आरम्भ करते हुए मिश्रजी का नाम पुकारा गया, कुछ इस अंदाज में कि जब तक महादेवी जी नहीं आतीं मिश्रजी की कविताओं का आनन्द लें। वे उठे और मंच पर लगी कुर्सियों की कतार को पार करते हुए मंच के एक छोर पर दर्शकों के निकट फर्श पर ही आ बैठे, अत्यन्त आत्मीय मुद्रा में जो देखते ही बनती थी। फिर शुरू हुआ उनका आत्मविस्मृतकारी कविता-पाठ। श्रोताओं की फरमाइश पर वे एक के बाद एक कविता सुनाते गए और रस का पारावार ठाठें मारता रहा। मिश्रजी के काव्य पाठ ने श्रोताओं पर कुछ ऐसी मोहनी डाली कि महादेवीजी को भूल सब उस रस-सागर में डूबते-उतराते रहे और इस तरह डेढ़-दो घंटे बीत गए। तभी आयोजकों ने अवसर भाप, महादेवीजी के न आ पाने की सूचना दे, खेद व्यक्त करते हुए सभा की समाप्ति की घोषणा कर दी और लोग बिना किसी शिकवे शिकायत के भवानी भाई की कविताओं की चाशनी को चाटते हुए घरों को चल दिए।

कुछ लोग मिश्रजी की सफलता का श्रेय कविता सुनाने की उनकी शैली को अधिक देते हैं और कविता को कम। इसलिए एक बार मैंने पूछा, "कुछ लोगों का कहना है कि आपकी बहुत-सी कविताएँ ऐसी हैं जिन्हें पढ़ने की अपेक्षा आपके मुख से सुनने पर अधिक आनन्द आता है और उनके नये अर्थ खुलने लगते हैं। इस प्रसंग में आपकी कविता 'गीतफरोश' का प्रायः नाम लिया जाता है। इसे आप कविता का गुण कहेंगे या उसकी सीमा?" यह पूछते हुए मैं सोच रहा था कि बहुत बड़ा तीर मार रहा हूँ, पर मेरे प्रश्न की धार को कुण्ठित करते हुए मिश्र जी बोले, "जो यह कहते हैं कि मेरी बहुत सी कविताएँ ऐसी हैं जिन्हें स्वयं पढ़ने के बजाय मुझसे सुनने पर अधिक आनन्द आता है वे ठीक कहते हैं। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि मेरी कविताएं श्रव्य काव्य के दायरे में ज्यादा ठीक बैठती हैं। चूंकि इनकी भाषा बोलचाल की भाषा है, इसलिए इनकी बोलचाल की भंगिमा मुद्रण में न आए, सुनने पर ही साकार हो, यह बिल्कुल स्वाभाविक है। मैं पढ़ कर सुनाता हूँ तो शब्दों के पीछे की भावनाओं को भी अपने स्वर और अपनी हलचल में व्यक्त कर देता हूं। मेरा ख्याल है कि यदि दूसरे लोग भी मेरी १ | ८

को मन में न पढ़ें, बोलकर पढ़ें तथा दूसरों को भी पढ़कर सुनाएं तो उनके निकट तथा और लोगों के निकट वे अपने आपको अधिक खोलेंगे।

जो कविता श्रव्य नहीं है अर्थात जो पढ़कर नहीं सुनाई जा सकती वह अपेक्षाकृत कम टिकनी भी है। तुलसीदास इसलिए चले आ रहे हैं कि जगह-जगह तुलसीकृत रामायण के माध्यम से राम की कथा होती है, घर घर में उसका पाठ होता है और साल में एक बार छोटे-बड़े गांव और शहर में वह मंच पर भी प्रस्तुत की जाती है रामलीला के माध्यम से। शेक्सपियर के बने रहने का भी मेरी समझ में यही राज है कि वे सारे संसार में कम ज्यादा ही क्यों न हो, मंच के माध्यम से लोगों के कानों तक पहुंचते हैं। कबीर और मीरा के गीत भी यदि गाए न जाते तो पद न होकर पदविहीन हो जाते, जहां के तहां पड़े रहते पांडुलिपियों में बन्द—बहुत तो छपकर पुस्तकालयों में। मेरी समझ में इसे कविता का गुण मानें और अगर सीमा ही मानें तो सगुण की सीमा मानें क्योंकि इसके बिना निराकार एक प्रकार का बेचारा ही सिद्ध होता है।' ('साहित्यिक साक्षात्कार', पृ० 235-36)

भवानी भाई नहीं रहे पर उनकी कविता सदा उनकी मोहनी की, श्रोताओं को घंटों बांधे रखने वाले उनके भावनापूर्ण काव्य पाठ की याद दिलाती रहेगी। इस युग की गहमागहमी के साथ कविता जो सुनाने के बजाय उत्तरोत्तर पढ़ने की चीज बनती जा रही है उससे एक प्रश्न बार बार कौंध जाता है कि मिश्रजी के अभाव में उनकी कविता की लोकप्रियता पर कहीं आंच तो नहीं आएगी? उनकी कविता की शक्ति यही उसकी सीमा तो नहीं बन जाएगी? श्रवण की स्वर्गिक ऊंचाइयों से जब वह पठन की कठोर धरती पर उतरने को मजबूर हो जाएगी तब उसे कहीं ठेस तो नहीं पहुंचेगी? मुझे तो लगता है कि उनकी कविता के सही मूल्यांकन के लिए श्रव्यता पठनीयता से उत्तीर्ण होकर किसी गहरी परख का अन्वेषण करना होगा।

नारी-मुक्ति की अनथक खोज

वर्षों पहले की बात है। एक पत्रिका के पन्ने पलट रहा था कि सहसा दृष्टि एक लेख पर जा टिकी, शीर्षक था—'विष्णु प्रभाकर अपनी निगाह में'। उसे पढ़ने लगा तो पढ़ता ही गया। कहीं अटका नहीं कहीं चौंका नहीं। लेखक अपने संघर्ष भरे जीवन की संगतियों विसंगतियों की चर्चा कर रहा था। विसंगतियाँ किसके जीवन में नहीं होतीं और संघर्ष से कौन सा साहित्यकार बच पाया है, बच पाएगा? लेख के अंत तक पहुँचने ही वाला था कि एकाएक स्तब्ध रह गया। लेखक क्षमा याचना के साथ कह रहा था 'मैंने अपनी रचनाओं की चर्चा नहीं की है, करने योग्य कुछ है भी नहीं। मुझे प्रायः अपनी रचनाएँ अच्छी नहीं लगतीं और दूसरों की प्रायः अच्छी लगती हैं। मैंने अभी तक किसी ऐसी रचना की सृष्टि नहीं की जो मेरे बाद भी जी सके, यद्यपि ऐसी रचना करने की चाह जरूर है जो मेरे मरने के सौ साल बाद भी पढ़ी जा सके।

जून 1965 की 'सारिका' में यह लेख छपा था। तब तक विष्णु प्रभाकर की बेजोड़ कृति 'आवारा मसीहा' प्रकाश में नहीं आई थी। फिर भी मुझे उनके उपर्युक्त वक्तव्य से बेहद झुंझलाहट हुई। झुंझलाहट इसलिए और भी अधिक हुई कि ऐसी विनम्रता भी क्या जो सत्य से कोसों दूर और एकदम निराधार लगे। उनकी तब तक की अन्य रचनाओं को थोड़ी देर के लिए भूल जाएँ तो भी मानना होगा कि उनकी धवल कीर्ति को अक्षुण्ण रखने के लिए उनके उपन्यास 'निशिकान्त' की नायिका कमला ही पर्याप्त है। इस उपन्यास के नायक निशिकान्त की जीवन व्यापी भीरुता से भले ही कुछ लोगों को शिकायत हो पर कमला धीरे धीरे पाठकों के मन और प्राण में बसती चली जाती है तथा धर्म और समाज के आंधी तूफानों में अकेले जूझती हुई इस निडर विधवा को वे मन्त्रमुग्ध हो देखते रह जाते हैं। कमला के अलावा उनके उपन्यास 'तट के बन्धन' की नीलम और स्वप्नमयी की अलका भी भुलाए नहीं भूलेंगी—अलका चाहे अपनी अव्यावहारिक आकाशचारी वृत्ति के कारण ही याद रहे।

विष्णु प्रभाकर ने मुख्यतः नाटक एकांकी और कहानियाँ लिखी हैं, पर बाद

'नारी-जाति के सम्बन्ध मे मैं कभी उच्छृखल नही था और अब भी नही हूँ' तो दूसरे मित्र को यह भी लिख सकते थे कि वे डेढ वर्ष तक एक धोबिन से प्रेम करते रहे। उनका सारा जीवन इसी तरह की असगतियो और परस्पर विरोधी स्थापनाओ से भरा रहा। उसका सही अर्थ परिस्थिति विशेष और पूर्वापर के सम्बन्ध को जाने बिना नही समझा जा सकता। सन्दर्भ से कटकर उसका कोई मूल्य ही नही रह जाता।''[1]

इन सब कठिनाइयो से अत्यन्त धैर्य के साथ जमते हुए विष्णुजी ने नीर-क्षीर विवेक के सहारे कथाकार शरत को ही नही, व्यक्ति शरत् को भी 'आवारा मसीहा' के रूप मे हमारे सामने साकार उपस्थित कर दिया और इस तरह हिन्दी तथा बागला साहित्य के बीच ऐसे सार्थक सेतु का निर्माण हुआ जो समूचे राष्ट्र की रागात्मक एकता का प्रतीक बन गया। यही नही, 'आवारा मसीहा' की निर्मिति से विष्णुजी द्वारा चिरअभिलषित एक अविस्मरणीय कृति भी प्रकाश मे आ गई। यहाँ भी उनका औपन्यासिक कौशल काम आया।

अब तक विष्णु प्रभाकर के पाच उपन्यास प्रकाश मे आए हैं—'निशिकान्त', 'तट के बन्धन' और 'स्वप्नमयी' तथा दो परवर्ती उपन्यास 'दर्पण का व्यक्तित्व' और 'कोई तो'। इन उपन्यासो म व्यक्ति और समाज का सघर्ष उभर कर सामने आया है और लेखक ने समाज की जर्जर रूढियो, मिथ्या विश्वासो और व्यर्थ के विधि निषेधो पर करारी चोट की है। परिपक्वता की दृष्टि से लगता है कि 'स्वप्नमयी' उनका पहला उपन्यास है, 'तट के बन्धन' दूसरा और 'निशि-कान्त' तीसरा। पर प्रकाशन क्रम मे 'निशिकान्त' पहले आता है, उसके बाद 'तट के बन्धन' और फिर स्वप्नमयी। विष्णुजी के सम्मुख अपना यह विचार रखा तो वे बोले, लेखन क्रम मे 'निशिकान्त' निश्चय ही पहला है। 'स्वप्नमयी' यद्यपि 'तट के बन्धन' के लगभग एक वर्ष बाद छपा, परन्तु लिखा वह उससे पहले गया था। 'निशिकान्त' मे मैंने जीवन को जैसा वह है वैसा सामने रखा है, किसी दृष्टिकोण या सिद्धान्त की बात सोचे बिना। 'तट के बन्धन मे एक विचार भी सामने रहा है, लेकिन 'स्वप्नमयी' म केवल मात्र विचार का ही प्रतिपादन हुआ है। लेकिन 'तट के बन्धन' मे पूर्णत ऐसा नही हुआ। मालती के सामने दहेज का प्रश्न है। ललिता और सत्येन्द्र परिवार से आगे बढकर देश के लिए जन जीवन से दूर बीहड वन प्रान्तर म जाकर रहते हैं। यह भी एक आदर्श ही है। लेकिन जुलेखा और नीलम के सामने, जिनम से एक पाकिस्तान से अप-हृत होकर आई है और दूसरी का अपहरण डाकुओ ने किया, कोई सिद्धान्त या दृष्टिकोण नही है। है केवल शून्यता। उसका अन्त कहाँ और कैसे होगा, यह

---

1. डा० रणवीर रांग्रा, 'साहित्यिक साक्षात्कार', पृ० 223 24

मे वे उपन्यास की ओर प्रवृत्त हुए और इस विधा पर भी उन्होने अपनी अमिट छाप छोडी है। उपन्यास म वे अपने को मुक्त और यथार्थ के अधिक निकट पाते हैं। साहित्य की अन्य विधाओ मे इसकी तुलना करते हुए वे कहते हैं, "नाटक की सीमाएँ हैं—वार्तालाप और रगमच की सीमाएँ। कहानी की भी सीमाएँ हैं। कहानी मे हम जीवन के किसी एक पक्ष को ले सकत हैं, पर तु पूरे जीवन का विशद चित्रपट प्रस्तुत करना उसके माध्यम से सभव नही। उसम सकेतो और प्रतीको के द्वारा ही विराट की छवि दिखानी पडती है। जीवन मे वामन और विराट दोनो की आवश्यकता और अनिवार्यता है। लेकिन न वामन विराट है और न विराट वामन। दोनो की स्वतन्त्र सत्ता है। उपन्यास के मुक्त क्षेत्र म अभिव्यक्ति पर कोई बन्धन नही। उसका कनवास विस्तृत है। वह सम्पूर्ण की उपलब्धि है। एक साथ कई स्तरो और धरातलो पर वह चलता है। एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न चित्र एक विस्तृत कैनवास पर अपनी स्वतन्त्र सत्ता के साथ उभर सकते हैं। कहूँगा, यथार्थ को प्रकट करने का वह सबसे सशक्त माध्यम है। मैंने आवश्यकतानुसार ही अभिव्यक्ति के माध्यम स्वीकार किए हैं, लेकिन अपने को मुक्त करने का आनन्द जितना उपन्यास के माध्यम से सम्भव है, उतना कहानी या नाटक के माध्यम से नही।"

उनके उपन्यास तो पाँच ही है, पर उनकी उपन्यास प्रियता की झलक 'आवारा मसीहा' तक मे भी जगह जगह मिल जाती है। उसे पढते हुए मुझे बार बार उपन्यास रस का आस्वाद मिला था और आनन्द विभोर होने के बावजूद हर बार चौंक उठा था। इस स्थिति का उल्लेख करते हुए एक बार मैंने विष्णुजी से पूछ ही लिया, "कथाकार के लिए जीवनी-लेखन बडे जोखिम का काम है। पर आपने चूंकि यह जोखिम उठाया है इसलिए आपस पूछने को मन होता है कि आपका कथाकार यथार्थ की धरती पर चलते चलते जब स्वभाववश कल्पना की उडान भरने लगता है तब उसे धरती पर खीच लाने मे आपके जीवनीकार को क्या परेशानी नही होती थी? 'आवारा मसीहा' को पढते समय जब जब मैं उपन्यास रस मे डूबने लगता था, तब तब मेरे मन म सहसा यह प्रश्न कौंध जाता था कि उस चित्रण म कितना सत्य है और कितनी कल्पना।' मेरे प्रश्न की गहरी खुदाई करते हुए वे बोले, "निस्सन्देह कथाकार के लिए जीवनी लेखन बडे जोखिम का काम है और मैंने पग पग पर इस जोखिम को अनुभव किया है। लेकिन शरत बाबू का जीवन इतना जटिल इतना रहस्यमय और इतना प्रेम प्लावित है कि मेरे कथाकार को उसमे सहज रस की उपलब्धि हुई। मैंने जो कुछ भी लिखा है उसके प्रामाणिक आधार खोजे हैं। जैसा मैंने कहा, उनका जीवन अत्यन्त रहस्यमय बन गया था। इस कारण प्रमाण खोजना सरल काम नही रहा। उस पर भी जो व्यक्ति स्वय अपने जीवन को रहस्यमय बनाना चाहता हो उसके बारे म तो कठिनाई और भी भयानक हो उठती है। एक मित्र से वे यह कह सकते थे कि

'नारी-जाति के सम्बन्ध में मैं कभी उच्छृंखल नहीं था और अब भी नहीं हूँ' तो दूसरे मित्र को यह भी लिख सकते थे कि वे डेढ़ वर्ष तक एक धोबिन से प्रेम करते रहे। उनका सारा जीवन इसी तरह की असंगतियों और परस्पर विरोधी स्थापनाओं से भरा रहा। उसका सही अर्थ परिस्थिति विशेष और पूर्वापर के सम्बन्ध को जाने बिना नहीं समझा जा सकता। सन्दर्भ से कटकर उसका कोई मूल्य ही नहीं रह जाता।"[1]

इन सब कठिनाइयों से अत्यन्त धैर्य के साथ जूझते हुए विष्णुजी ने नीर-क्षीर विवेक के सहारे कथाकार शरत् को ही नहीं, व्यक्ति शरत् को भी 'आवारा मसीहा' के रूप में हमारे सामने साकार उपस्थित कर दिया और इस तरह हिन्दी तथा बांग्ला साहित्य के बीच ऐसे सार्थक सेतु का निर्माण हुआ जो समूचे राष्ट्र की रागात्मक एकता का प्रतीक बन गया। यही नहीं, 'आवारा मसीहा' की निर्मिति से विष्णुजी द्वारा चिरअभिलषित एक अविस्मरणीय कृति भी प्रकाश में आ गई। यहाँ भी उनका औपन्यासिक कौशल काम आया।

अब तक विष्णु प्रभाकर के पाँच उपन्यास प्रकाश में आए हैं—'निशिकान्त', 'तट के बन्धन' और 'स्वप्नमयी' तथा दो परवर्ती उपन्यास 'दर्पण का व्यक्तित्व' और 'कोई तो'। इन उपन्यासों में व्यक्ति और समाज का संघर्ष उभर कर सामने आया है और लेखक ने समाज की जर्जर रूढ़ियों, मिथ्या विश्वासों और व्यर्थ के विधि निषेधों पर करारी चोट की है। परिपक्वता की दृष्टि से लगता है कि 'स्वप्नमयी' उनका पहला उपन्यास है, 'तट के बन्धन' दूसरा और 'निशिकान्त' तीसरा। पर प्रकाशन क्रम में 'निशिकान्त' पहले आता है, उसके बाद 'तट के बन्धन' और फिर 'स्वप्नमयी'। विष्णुजी के सम्मुख अपना यह विचार रखा तो वे बोले, लेखन क्रम में 'निशिकान्त' निश्चय ही पहला है। 'स्वप्नमयी' यद्यपि 'तट के बन्धन' के लगभग एक वर्ष बाद छपा, परन्तु लिखा वह उससे पहले गया था। 'निशिकान्त' में मैंने जीवन को जैसा वह है वैसा सामने रखा है, किसी दृष्टिकोण या सिद्धान्त की बात सोचे बिना। 'तट के बन्धन' में एक विचार भी सामने रहा है, लेकिन 'स्वप्नमयी' में केवल मात्र विचार का ही प्रतिपादन हुआ है। लेकिन 'तट के बन्धन' में पूर्णतः ऐसा नहीं हुआ। मालती के सामने दहेज का प्रश्न है। ललिता और सत्येन्द्र परिवार से आगे बढ़कर देश के लिए जन जीवन से दूर बीहड़ वन प्रान्तर में जाकर रहते हैं। यह भी एक आदर्श ही है। लेकिन जुलेखा और नीलम के सामने, जिनमें से एक पाकिस्तान से अपहृत होकर आई है और दूसरी का अपहरण डाकुओं ने किया, कोई सिद्धान्त या दृष्टिकोण नहीं है। है केवल शून्यता। उसका अन्त कहाँ और कैसे होगा, यह

1 डा॰ रणवीर रांग्रा, साहित्यिक साक्षात्कार, पृ॰ 223 24

कोई नहीं जानता। लेखक भी नही जानता। लेकिन यह शून्यता निखूट जीवन का ही एक रूप है। इसलिए ये दोनो स्वय ही अपना मार्ग खोज लेती हैं। मैं समझता हूँ, आपकी स्थापना का यही आधार है। मैं स्वय भी इससे असहमत होने का कोई कारण नही देखता हूँ।'

स्वप्नमयी' एक भावुक नारी के विफल जीवन की कहानी है जो जीवन भर कल्पना के आकाश मे उडती रहती है और धरती पर आती ही नही। लेखक ने स्वय माना है, 'मैंने इसे अन्त से लिखना आरम्भ किया, क्योकि चाह कर भी मैं उसके अन्त को न बदल सका। अपने प्रयोगो का स्वप्नमयी विफल होते देखे, यही मै चाहता था और हुआ भी यही।

निशिकान्त' विष्णु प्रभाकर का पहला और विशिष्ट उपन्यास है जिसमे सन 1920 से 1939 तक के सामाजिक और राजनीतिक जीवन को आधार बनाकर मध्यवर्ग के ऐसे सवेदनशील युवक की कहानी प्रस्तुत की गई है जिसे समाज की गलघोटू जकड से मुक्त होने के लिए अपने भीतर के पुरातन सस्कारो और बाहर की सकीर्ण सामाजिकता से निरन्तर सघर्ष करना पडता है। भीतरी और बाहरी दोनो प्रकार की यातनाएँ भोगता हुआ कथानायक निशिकान्त अतत उपन्यास के सशक्त नारी पात्र कमला के सहारे सामाजिक सस्कारिता के बधन काट फेंकता है। बीच-बीच मे ऐसा जरूर लगता है कि वह कायर है, कमला की तरह विपरीत परिस्थितियो मे सीधे टक्कर लेने की हिम्मत उसमे है नही और वह अपनी परिस्थितियो को ज्यो का-त्यो स्वीकार कर लेता है। पर शीघ्र ही यह भी विदित हो जाता है कि परिस्थितियो की उसकी यह स्वीकृति केवल ऊपरी समझौता है—उनसे सीधे टक्कर लेने के लिए अपने को तयार करने की खातिर। मनसा वह कभी विपरीतताओ के आगे नही झुका और जब उसने अपने को जीवन की विपरीतताओ से सीधे भिडने के योग्य पाया उसने भरी भीड के सामने समाज द्वारा तिरस्कृत विधवा कमला का हाथ पकड लिया।

कमला के रूप मे लेखक ने हिन्दी उपन्यास को एक ऐसी सशक्त विधवा नारी दी है जो समाज से सीधे भिडकर उसके कठोरातिकठोर प्रहारो को हिम्मत से झेलती जाती है—उसके आगे झुकती नही, टूटती भी नही। कमला के चरित्र म सबसे बडी बात यह है कि समाज के प्रहारो को झेलने की शक्ति उसे लेखक की आदर्शवादिता से नही मिली, बल्कि वह उसके अपने जीवन से ही उपजी और धीरे धीरे पनपी है। समाज की मार सहते सहते वह उत्तरोत्तर पक्की होती गई और अतत इस स्थिति को पा गई कि निर्भय होकर कह सके 'मैं अब किसी स नही डरती। मैं केवल इतना जानती हू कि मुझे जीना है और जीने के लिए मुझे जो भी रास्ता दिखाई देगा, उस पर चलूगी।' अपनी निर्भीकता और आत्म निर्भरता के कारण कमला हमे शरत् के उपन्यास 'शेष प्रश्न' की नायिका कमल

की याद दिलाती है जो बड़े आत्मविश्वास के साथ जीवन भर समाज से अकेले जूझती रहती है, विपरीतताओं के आगे घुटने नही टेकती। वास्तव मे, निशि कात की अपेक्षा कमला के चरित्र मे अधिक पकड है।

एक बार विष्णु प्रभाकर के सामने अपना यह मत व्यक्त किया तो वे बोले, "कमला के सम्बन्ध मे आपने जो विश्लेषण किया है, वह बिल्कुल सही है। लेकिन उसका निर्माण करते समय मेरे सामने कोई चरित्र नही था। उपचेतना मे रहा हो तो नही जानता। शरत् से प्रभावित हुआ हूँ। उसने पहली बार नारी को मनुष्य के पद पर प्रतिष्ठित किया है। लेकिन तत्कालीन अनेक सुधार आन्दोलनो ने नारी की मुक्ति के लिए कम प्रयत्न नही किए। गाधी युग के स्वतन्त्रता सग्राम ने उसे घर से बाहर की कर्मभूमि मे लाकर खडा कर दिया था। इन सभी आन्दोलनो की अपनी सीमाएँ भी थी। मैंने शरत को पढा है, आर्य समाज मे सक्रिय भाग लिया है और स्वतन्त्रता सग्राम को भी निकट से देखा है। इस सबका परिणाम कमला के चरित्र मे प्रकट हुआ है। कमला के चरित्र द्वारा मैंने यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि आर्य समाज ने जहाँ नारी को मुक्ति दी वहा उसकी गतिविधियो पर अकुश भी कम नही लगाए। हर समाज और आन्दोलन अपने बन्धन लगाता है। कमला सहज भाव से उन अकुशो की यातना को सहती है, लेकिन 'स्वप्नमयी' की अलका की तरह अपना बलिदान नही करती, अकुशो को सहज भाव से लाँघ जाती है। मैंने अभी 'प्रयत्न' शब्द का प्रयोग किया है, लेकिन सच यही है कि कमला ने स्वय अपनी निर्मिति की है। मैंने उसका निर्माण नही किया। मैं नारी की पूर्ण मुक्ति का समर्थक हूँ। वस्तुत निशिकात और कमला की कहानी अभी अपूर्ण ही है। यदि कभी पूर्ण हो सकी तो मेरी कल्पना और स्पष्ट हो सकेगी। युग तेजी से बदल रहा है और मै भी सदा नये के प्रति आग्रहशील नही तो उन्मुक्त अवश्य रहना चाहता हूँ। मै नये को अस्वीकार नही करता, उसे परखना चाहता हूँ। मैं अकेला पड सकता हूँ, लेकिन अपने अकेलेपन के साथ जिन्दा रहना चाहता हूँ।"[1]

किसी भी उपन्यास के पात्र जब तक लेखक की उँगली पकडकर चलते है, तब तक वे उसके हाथ की कठपुतली बने रहते हैं। उनका स्वाभाविक और स्वस्थ विकास तभी हो पाता है जब वे अपने रचयिता को चकमा देकर उसके हाथ से निकल जाते है और अपनी राह आप बनाने लगते हैं। विष्णुजी के औपन्यासिक पात्र भी इसका अपवाद नही, यह उन्होने स्वय स्वीकारा है, "विशिष्ट दृष्टिकोण के होते हुए भी मैं 'तट के बन्धन' के सब पात्रो से उसकी पुष्टि नही कर सका। लिखते समय मैं सोच ही नही सकता था कि डाकुओ

1 डा० रणवीर रांग्रा 'साहित्यिक साक्षात्कार', पृ० 218-20

द्वारा अपहृत नीलम का चरित्र किस तरह विकसित होगा। लेकिन जब वह विकसित होने लगा तो मुझे तनिक भी कठिनाई नहीं हुई और मैं उस छुई मुई को अगारभक्षक सुभाष के पास तक ले जा सका। कहूँगा, उसने स्वयं ही मुझे वह मार्ग दिखाया। 'निशिकान्त' में भी ऐसा ही हुआ। उसे लिखने से पूर्व उसके नायक निशिकान्त की पूर्ण कल्पना मेरे मस्तिष्क में थी, लेकिन कमला के सम्बन्ध में मैंने सोचा भी नहीं था। उसका निर्माण कैसे हो गया, यह मैं आज भी नहीं समझ पाया हूँ। इसीलिए, आप देखेंगे कि निशिकान्त में वह सहजता नहीं है। सहजता प्राप्त करने के लिए उसे संघर्ष करना पड़ता है। तब कहीं जाकर वह मुक्त हो पाता है। इसके विपरीत कमला कभी कुछ सोचती ही नहीं। हर बाधा को वह सहज भाव से पार कर जाती है और मेरी आशा के विपरीत निशिकान्त की त्राता बन जाती है।"[1]

लेखक के व्यक्तिगत जीवन का यथार्थ कभी उसे इतना बाँध देता है कि वह लाख चाहने पर भी उससे मुक्त नहीं हो पाता। उपन्यास के नायक पर रचनाकार के निजी यथार्थ की जकड़ का एहसास मुझे 'निशिकान्त' को पढ़ते समय हुआ था। एक बार यह बात मैंने विष्णुजी के सम्मुख रख दी और कहा, 'आपका लेख 'विष्णु प्रभाकर अपनी निगाह में' पढ़ने के बाद मुझे निशिकान्त में आपका प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखने लगा है। वह आपकी सायास निर्मिति है, जबकि आपके भीतर गहरे में पैठी नारी अवसर पाकर सहज ही कमला के रूप में अभिव्यक्ति पा गई है। कहीं ऐसा तो नहीं कि आपने निजी जीवन के यथार्थ में ही निशिकान्त को बाँध दिया हो?' मेरा प्रश्न सुनकर वे खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले, "क्या आप मुझे अनुमति देंगे कि इस प्रश्न का उत्तर मैं कानूनी भाषा में दूँ? हाँ, मैं अपना अपराध स्वीकार करता हूँ। जब आप मुझे जो दण्ड दें, स्वीकार करूँगा।" ('साहित्यिक साक्षात्कार', पृ० 220)

विष्णुजी, आप विष्णु हैं तो क्या! दण्ड तो आपको मिलना ही। पाठक बड़ा सख्त किस्म का जीव होता है, कभी किसी को नहीं बख्शता। उसकी पकड़ से आप भी नहीं छूट सकते। आपके इस अपराध की सजा बस यही है कि निशिकान्त और कमला की कहानी को, जिसे आप अपूर्ण मानते हैं, शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण करने का वचन दें अपनी भुजा ऊपर उठाकर, और फिर अपने साधक जीवन की हीरक जयन्ती पर लाखों-करोड़ों पाठकों की स्नेहसिक्त बधाइयाँ स्वीकार करें। अभी आपको भीतर के 'आवारा मसीहा' को भी पूर्ण अभिव्यक्ति देनी है। पाठक आपको यों ही छोड़ने वाले नहीं।



1 डा० रणवीर रांग्रा, 'साहित्यिक साक्षात्कार', पृ० 218 20

अतर्मन की रत्नमजूषा मे बद दुर्लभ अनुभूतियाँ

डा० नगेन्द्र बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी हैं, बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न हैं। समीक्षक, अध्यापक, सपादक, परामर्शदाता आदि अनेक रूपो मे वे पिछले पचास पचपन वर्ष से हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि मे निरन्तर अमूल्य योगदान कर रहे हैं, भारतीय वाङ्मय और उसमे भी आगे विश्व-साहित्य के आधारभूत तत्त्वो के अन्वेषण मे लीन रहे हैं। मूलत वे साहित्य के माध्यम से आत्मतत्त्व के जिज्ञासु हैं और अखण्ड मानव-चेतना को काव्यशास्त्र मे ले जाने के लिए व्याकुल हैं।

पर उनका व्यक्तित्व परस्पर विरोधी धाराओ का सगम है, जहाँ सहज प्रवृत्तियो और सामाजिक सस्कारो का सघर्ष उनकी आत्मा को निनादित किए रहता है। प्रत्येक व्यक्ति और स्थिति के प्रति उनकी प्रथम प्रतिक्रिया बडी प्रखर और प्राय उग्र होती है—एकदम अनुकूल या एकदम प्रतिकूल। बीच की ढुलमुल स्थिति को वे अपना ही नही सकते। प्रतिकूलता को तो वे खुलकर अभिव्यक्त दे देते हैं, लेकिन अनुकूलता पर तटस्थता का आवरण चढाकर उस औरा की नजर से बचा ले जाने की कोशिश करते हैं। इसलिए देखने को प्राय उनका तना हुआ व्यक्तित्व मिलता है। वे परिवार मे हो या समाज मे, उनकी गुरु गभीर मुद्रा उनके भीतर की स्निग्धता और मैत्री ममता को छिपाए रखती है। उनके बारे म उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रक्षादेवी का यह कथन कितना सटीक है 'ससार मे तीन प्रकार के लोग होते है—एक अगूर जसे, दूसरे बेर के समान और तीसरे बादाम की भाँति ऊपर से कठोर, पर अन्तर मे पौष्टिक। मेरे पति बादाम ही हैं।" उम्र के साथ अब उनकी कठोरता बहुत पिघल गई है वे दुबला भी गए हैं। पर अपनी कठोर मुखमुद्रा को मुक्त मुस्कान के हवाले करने म आज भी इन्हे आयाम करना पडता है। इस प्रस्तरमूर्ति का अन्तरग कितना उद्विग्न रहा है इस बारे मे उनकी यह स्वीकारोक्ति उनके निकटतम व्यक्तियो तक को चौंका सकती है "यह अन्तरग जीवन कितना परवश रहा है, इसका अनुमान केवल

मैं ही कर सकता हूँ। अहंकार से विजड़ित कठोर मुद्रा के भीतर मेरा मन दूसरों के स्नेह पर इतना अधिक निर्भर रहा है कि मेरे बुद्धि विवेक के लिए वह प्राय दया का पात्र बन गया है। जब से मैंने होश संभाला है, तभी से मैं इस विचित्र अनुभूति से आक्रान्त हूँ।"

इधर डा० नगेन्द्र की आत्मकथा प्रकाश मे आई है जिसे उन्होंने 'अर्धकथा' की सज्ञा दी है। इस आत्मकथा से पता चलता है कि नगेन्द्र जी का बाल्यकाल अर्धसामती वातावरण मे बीता। उनके पितामह पंडित गगाप्रसाद नगाइच अलीगढ़ जिले के अतरौली नामक कस्बे मे जमीदार थे। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के सनाढ्य ब्राह्मणो मे नगाइच परिवार की अच्छी प्रतिष्ठा थी। इसी परिवार मे चैत्र कृष्णा 9, सवत् 1971 विक्रमी को नगेन्द्र जी का जन्म हुआ। उनके पिता उस सुधारवादी युग के जागरूक युवक थे। उनके सामाजिक और राजनीतिक आदर्श नगेन्द्रजी के पितामह के जीवन-दर्शन से मेल नही खा सके। पर पितामह का व्यक्तित्व प्रवृत्तिमय था जिसका प्रभाव नगेन्द्रजी पर भी पड़ा। अर्धसामतीय सस्कार अपने गुण-दोषों सहित किसी न किसी रूप मे उनके व्यक्तित्व मे विद्यमान हैं। इस तथ्य को उन्होंने स्वय भी स्वीकारा है—"अहम्मन्यता, दुराग्रह, उग्रता आदि सहचारी दोष मुझ मे आरभ से थे। यद्यपि समय की टक्करो और नौकरी की रगड से ये कोने अब बहुत घिस चुके हैं फिर भी कभी-कभी मुझे और मेरे निकट के व्यक्तियो को इनका अनुभव हो जाता है।"

नगेन्द्रजी ने आठवें दर्जे तक अतरौली की पाठशाला मे शिक्षा पाई। हाई स्कूल तक वे अनूपशहर के ऐंग्लो वर्नाक्युलर हाई स्कूल मे पढे। इण्टर तक उन्होने चन्दौसी कालेज मे तथा बी०ए० और एम०ए० (अंग्रेजी) तक सेंट जान्स कालिज, आगरा मे शिक्षा पाई। उनका उच्च शिक्षाक्रम इस प्रकार रहा—एम०ए० अंग्रेजी, सेंट जान्स कालेज, आगरा—सन 1936 ई०, एम०ए० हिन्दी (प्राइवेट), नागपुर विश्वविद्यालय—सन् 1937 ई० तथा डी० लिट० (हिन्दी), आगरा विश्वविद्यालय—1946-47 ई०। विश्वविद्यालय की शिक्षा पूरी कर लेने के बाद डा० नगेन्द्र के व्यावसायिक जीवन का आरम्भ हुआ। दिल्ली विश्वविद्यालय से सम्बन्धित कालिज आफ कामर्स मे दस वर्ष अंग्रेजी के प्राध्यापक के रूप मे कार्य करने के पश्चात वे 1947 मे आल इंडिया रेडियो मे चले गए। वहाँ उन्होंने पाँच वर्ष तक समाचार विभाग के हिन्दी पर्यवेक्षक के पद पर काम किया। यद्यपि यह कार्य उनकी प्रकृति और रुचि तथा उनके प्रकृत व्यवसाय अर्थात अध्यापन के विरुद्ध पडता था फिर भी रेडियो मे हिन्दी की प्रतिष्ठा बढाने का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करने मे जिन विद्वान अधिकारियो ने योग दिया उनमे डा० नगेन्द्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सन 1952 मे तो वे स्टेशन डायरेक्टर के पद के लिए चुने गए थे, परन्तु रेडियो के कार्य को मन से न अपना सकने के कारण

अक्तूबर, 1952 मे प्रथम अवसर पाते ही वे उस काय को तिलाजलि दे, दिल्ली विश्वविद्यालय म हिदी विभाग के रीडर-अध्यक्ष के पद पर आ गए।

डा० नगेन्द्र ने जब दिल्ली विश्वविद्यालय के हिदी विभाग मे अध्यक्ष-पद का काय-भार सभाला तब यह विभाग बना ही बना था। उससे पहले दिल्ली विश्व-विद्यालय मे हिन्दी विभाग अलग से था ही नही एक छोटे से अनुभाग के रूप में वह सस्कृत विभाग का ही अग था। हिदी की पढाई की कोई भी व्यवस्था तय ढग की नही थी। शून्य से आरम्भ करके किसी विभाग को शिखर तक ले जाना कोई साधारण बात नही—और वह भी तब जब कि इलाहाबाद, वाराणसी, लखनऊ विश्वविद्यालया के हिदी-विभागा की तुलना मे यहाँ के विद्यार्थियो के हिदी ज्ञान का स्तर निम्न होता था और विभाग मे पुराने और अनुभवी अध्यापको की सख्या कम थी। डा० नगेन्द्र के अथक परिश्रम और अध्यवसाय से दिल्ली विश्वविद्यालय का हिदी-विभाग शीघ्र ही देश के सवश्रेष्ठ हिदी विभागो मे गिना जान लगा। हिन्दी विभाग को उन्नति के साथ ही डा० नगेन्द्र भी उत्कष की ओर बढे। सन् 1955 मे वे प्रोफेसर और सन 1959 मे 'फैकल्टी आफ आट स्' के डीन बने और 1960 मे 'बोड आफ रिसच स्टडीज इन ह्यूमैनिटीज' के चेयरमन हो गए। इसी वष वे भारतीय हिन्दी परिषद् के सभापति के रूप मे निर्वाचित हुए।

इस तथ्य को कम लाग जानते हैं कि डा० नगेन्द्र के साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ कवि के रूप मे हुआ। 'वनबाला' और 'छदमयी' नाम से उनके दो कविता-सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनकी रचनाएँ आज भी रस विभोर कर देती हैं। उनकी प्रथम आलोचना कृति 'सुमित्रानन्दन पन्त' का हिदी जगत म आशा से अधिक स्वागत हुआ। इससे नगेन्द्रजी के पाँव जम गए। फलत दूसरी कृति 'साकेत—एक अध्ययन' पहली की अपेक्षा अधिक विश्वास और अध्यवसाय के साथ लिखी गई। 'सुमित्रानन्दन पन्त' के बाद 'साकेत—एक अध्ययन', 'पत से मथलीशरण गुप्त की ओर', फिर 'देव और कविता की मीमासा' और फिर 'प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र की आत्मा की खाज' तक डा० नगेन्द्र की यह यात्रा बडी विचित्र लगती थी। पर वास्तव मे वे काव्य की आत्मा की तलाश म उसक मूल स्रोतो का अवगाहन और सिद्ध कविया तथा आचार्यों का अनुशीलन कर रहे थे। उनकी प्रथक आलाचना कृति 'सुमित्रानन्दन पत' से लेकर साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत ग्रथ 'रस सिद्धान्त' तक उनके पूरे समीक्षा-साहित्य को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होने अपने लिए जो दिशा निर्धारित कर ली थी, उस पर वे निष्कप डगो से निरतर बढते चले गए। आज भी वे भारतीय वाङमय और उससे भी आगे विश्व-साहित्य के आधारभूत तत्त्वा के अन्वेषण मे लीन है। हिदी साहित्य को उनकी अमूल्य देन है 'रस सिद्धान्त' नामक वृहत ग्रथ जो उनकी तीस-पैंतीस वष की साहित्यिक साधना की परिणति है।

इस आत्मकथा का एक बहुत बड़ा अंश इन तथ्यात्मक विवरणों ने लील लिया है जो पहले से ही ज्ञात हैं, उनके अभिनन्दन ग्रन्थ और उनकी अपनी समीक्षा आलोचना कृतियों के माध्यम से। फिर भी, काफी-कुछ ऐसा है जो रोचक है और उद्बोधक भी।

निराला जी से नगेन्द्रजी की प्रथम भेंट उनके विद्यार्थी-जीवन में ही हो गई थी जब वे सेंट जॉन्स कालिज की हिन्दी सभा के वार्षिक कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता करने के लिए निरालाजी को आमंत्रित करने गए थे। अपनी इस पहली मुलाकात का उन्होंने ब्योरेवार वर्णन किया है। उसका यह अंश उल्लेखनीय है "चन्दौसी कालिज के मेरे एक मित्र दयानन्द गुप्त पर, जो उस समय लखनऊ विश्व विद्यालय में विधिशास्त्र का अध्ययन कर रहे थे, उनकी बड़ी कृपा थी। अत मैं उन्हीं को साथ लेकर निरालाजी से मिलने गया। भूसामंडी काफी पुरानी बस्ती थी। हम देखकर निरालाजी ने अत्यंत सहज भाव से दयानदजी से कहा 'आइए आइए', और सामने पड़ी हुई अस्तव्यस्त कुर्सियों पर वे अखबार बिछाने लगे। मैंने विनीत भाव से कहा 'आप क्यों कष्ट करते हैं? हम यू ही बैठ जायेंगे।' वे बोले, 'नहीं, नहीं, इनमें खटमल हैं इसलिए कागज बिछाना जरूरी है।'

जब नगेन्द्रजी रेडियो से सम्बद्ध थे तब वे सुमित्रानन्दन पन्त को रेडियो में लाने का निमित्त भी बने थे जिसका विस्तार से वर्णन 'रेडियो में कवि पन्त का आगमन' शीर्षक के अन्तर्गत हुआ। इस सम्बन्ध में उनके दो संस्मरण उल्लेखनीय हैं "मैं रेडियो की ओर से उनको लिवाने स्टेशन गया—कई बार गाड़ी इधर से उधर देख ली, पर पन्त जी नहीं मिले और मैंने लौटकर श्री राव को उनके न आने की सूचना दे दी। पर कुछ ही देर में उनका टेलीफोन आया कि पन्तजी आ गये हैं और सुश्री निर्मला जोशी के यहाँ ठहरे हैं। मुझे हैरानी हुई—शाम को जब श्री राव के यहाँ हम मिले तो पता लगा कि गाड़ी में और गाड़ी के बाहर भीड़ अधिक थी, धूप भी कुछ ज्यादा थी, इसलिए पंतजी पंद्रह-बीस मिनट अपना डिब्बा बंद किये गाड़ी में ही बैठे रहे।

पंत जी जब तत्कालीन महानिदेशक लक्ष्मणन से मिल लिए, उसके आगे का वर्णन भी रोचक है "शाम हो आयी थी और मैं कार में पंतजी को लेकर डा० जोशी की कोठी के लिए रवाना हो गया। आते समय मैं रास्ता भूल चुका था, इसलिए वापसी में मार्ग दर्शन का दायित्व का पंतजी ने अपने ऊपर ले लिया। मुझे सामान्यत इसे स्वीकार नहीं करना चाहिए था, परन्तु अपने मार्ग ज्ञान के प्रति अतिशय अविश्वास और पंतजी के आश्वस्त स्वर के कारण मैं उनके निर्देशन पर चल दिया। परिणाम जो होना चाहिए था वही हुआ ईदगाह के ढाल और रोहतक रोड के बीच में भटक गया। पंतजी हर बार विश्वास के साथ कहते, 'नहीं-नहीं, अब की बार ठीक है यही रास्ता है, आप चलिए भी।' इसी आवर्तन में

अंधेरा हो आया और शायद बैटरी का कनेक्शन ढीला हो जाने से मेरी गाड़ी ढाल पर रुक गयी। बड़ी परेशानी हुई—मुझे बार-बार झुंझलाहट होती कि मैंने पंतजी की बात क्या मानी, मैं मशीन के थोड़े बहुत ज्ञान के बिना गाड़ी चलाने की बेवकूफी क्या करता हूं? कई बार मैंने कुछ राहगीरों की सहायता से गाड़ी को ढाल पर ले जाकर स्टार्ट करने की कोशिश की। पंतजी को कष्ट हो रहा था, इसकी मुझे चिंता थी, वे बेचारे सहायता भी क्या करते? मैंने उनसे कहा कि आप एक ओर खड़े हो जाइए, मैं किसी ड्राइवर की सहायता से गाड़ी अभी चालू कर लूंगा, और मैं इधर उधर किसी जानकार आदमी की खोज करने लगा। इतने ही में पंतजी ने आवाज दी, 'डाक्टर नगेन्द्र, आप यहां आइए, मैं बताऊं।' मैंने समझा, पंत जी ने गाड़ियों का काफी उपयोग किया है, संभवत: मशीन के बारे में थोड़ा बहुत जानते हों। मैं आशा के साथ उनकी ओर बढ़ा तो कहने लगे, 'देखिए आप इस गाड़ी को बेच दीजिए और नयी ले लीजिए। फिर कभी गड़बड़ नहीं होगी।' मैं काफी परेशान हो चुका था, इस नेक सलाह को सुनकर खीज उठा। मुझे लगा कि पंतजी को बेवक्त यह क्या मजाक सूझा। पर वास्तव में पंतजी के चेहरे पर हंसी का कोई निशान ही नहीं था। मुझे ही हंसी आ गयी।"

लक्ष्मणन साहब के ठाठ का उल्लेख करते हुए नगेन्द्रजी ने एक और रोचक प्रसंग बताया है "लक्ष्मणन साहब सैनिक अनुशासन के बड़े कायल थे—कर्मचारियों के लिए सुबह की परेड लाजिमी कर दी गयी थी—नमस्कार सलाम की जगह उन्हें फौजी सैल्यूट करने के आदेश थे। शाम को डी० जी० जब तीसरी मंजिल पर स्थित अपने कार्यालय से खट पट करते हुए उतरते थे, तो ड्यूटी पर तैनात चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों को वृत्ताकार खड़े होकर सल्यूट करना पड़ता था—सारी इमारत बूटों की खटखटाहट से गूंज जाती थी। अजब समां था। एक दिन समाचार अनुभाग के निदेशक नीची निगाह किये सिगरेट पीते हुए गुजर रहे थे कि इतने में एक अर्दली ने सैल्यूट मारा जिससे उनके मुंह की सिगरेट छिटककर दूर जा गिरी। एकदम चौंककर वे बोले, 'ब्लडी फूल, क्या बदतमीजी है।' फिर मेरी ओर देखकर हंसे और उस कर्मचारी से कहने लगे, 'मिस्टर, यह सब बड़े साहब के लिए ही रहने दो। यहां इसकी जरूरत नहीं है।'"

रोचक होते हुए भी ये प्रसंग डा० नगेन्द्र की अपेक्षा उन लोगों को अधिक व्यक्त करते हैं जो संस्मरण का विषय बने हैं, जबकि किसी भी आत्मकथा के पाठक आत्मकथाकार के बारे में अधिकाधिक उत्सुक होते हैं। वे उसके कर्म-विवरण के जिज्ञासु नहीं होते, क्योंकि वह तो पहले ही उजागर होता है और उसी से प्रेरित होकर वे उसकी आत्मकथा की ओर आकृष्ट होते हैं। वे तो उसके अंतरंग की झांकी पाने के लिए उत्सुक होते हैं। नगेन्द्रजी जैसा प्रखर व्यक्तित्व जो दो ढाई दशकों तक हिन्दी शिक्षा-जगत पर और एक प्रकार से साहित्य-जगत पर

का और बेधड़क अपना सामना करने का साहस बटोरना होता है। पाठक की बात तो बहुत बाद मे आती है और वह भी तब जब आत्मकथाकार का आत्मान्वेषण कहीं पहुँच चुकता है। जो निर्भय होकर स्वय अपना सामना कर चुका हो वह किसी और का सामना करने से क्यो कतराएगा ?

आत्मान्वेषण आत्मालोचन बडा ही कठिन काय है—खाडे की धार पर चलने के समान। हमारा अन्तरग अपने इद गिद इतनी मजबूत किलेबन्दी किए रहता है कि व्यक्ति मे जब तक आत्मान्वेषण की सच्ची तडप न हो, वह उसे अपने भीतर झाँकने तक नही देता। छोटी मोटी कमजोर कोशिश को भरमाने के लिए तो वह ऐसे बहाने गढ देता है कि व्यक्ति आत्मालोचन की मर्मान्तिक पीडा से बचने के लिए अपने अन्तरग के भुलावे मे आकर उन लचर बहानो को सही मानता हुआ उनका सहारा लेने लगता है। लगता है, डा० नगेन्द्र के अन्तमन ने भी उनके साथ यही खेल खेला है। उन्हे आत्मालोचन की पीडा से बचाने के लिए उसने एक नही, दो-दो 'माकूल' बहाने गढ दिए हैं। इस आत्मकथा के 'मुखबध' म वे लिखते हैं "यह मेरे जीवन का अद्धसत्य मात्र है—पूण सत्य नही, क्योंकि पूण सत्य को अनावृत करने का नैतिक या अनैतिक साहस मुझमे नही है। पूण सत्य का उद्घाटन करने के लिए अनासक्ति पहली शत है जो जीवन्मुक्त अवस्था मे ही सम्भव है।

"जीवन्मुक्ति की अवस्था उस समय प्राप्त होती है जब मनुष्य की चेतना सामान्य रागद्वेष तथा व्यक्ति ससर्गों से ऊपर उठकर सावभौम धरातल पर अवस्थित हो जाती है—या फिर सामाजिक जीवनस्तर से स्खलित होकर अधिक धरातल पर उतर आती है। सौभाग्य या दुर्भाग्य से मैं इन दोनो भूमिकाओ से वचित हूँ।" और फिर 'समाहार' मे सूत्रनाथ बताते हैं "कुछ अनुभूतियाँ ही ऐसी हैं जिन्हें मैं अपने जीवन की अमूल्य सम्पत्ति मानता हूँ, उन्हें मैंने अन्तमन की रत्न मजूषा मे बन्द कर इस कालपात्र के केन्द्र मे रख दिया है। ये अभिलेख दो प्रकार के हैं एक प्रकार के अभिलेखो का सम्बन्ध मेरी साहित्य साधना के सुख सन्तोष से है और शेष का सम्बन्ध नारी के स्नेह-ससार से है।"

इस प्रकार, नगेन्द्रजी का अन्तरग उन्हें भुलावे मे डालकर उनसे एक विचित्र प्रतिज्ञा भी करा देता है—निष्ठापूवक अधसत्य कहने की इस अधसत्य की अभिव्यक्ति मे मैं यथासम्भव असत्य भाषण नही करूँगा।' इस प्रतिज्ञा मे 'यथा- शब्द मार्के का है। कितना बडा छल किया है डा० नगेन्द्र के अन्तरग ने —अधसत्य मे सत्य भाषण की प्रतिज्ञा और वह भी यथासम्भव' से

। तो इस बात का है कि अपने अन्तरग के भुलावे म आकर अधिकाश उनके प्रशसक हैं, अवमानित कर बठते हैं—

न अन्तरग का प्रश्न है, वह नितात मेरा अपना है

भी छाया रहा हो और जो अनेक प्रवादों का विषय भी बन चुका हो, उसका अंतरंग तो निश्चय ही जिज्ञासा जगाएगा। इसलिए जब यह खबर फैली कि डा० नगेन्द्र आत्मकथा लिख रहे हैं तभी से बड़े कुतूहल के साथ उसकी प्रतीक्षा होने लगी। उनकी गहन गंभीर समीक्षा-कृतियों के आधार पर उनकी आत्मकथा के बारे में भी प्रत्याशा की जा रही थी कि वह आत्मालोचन का उत्तम उदाहरण होगी क्योंकि आत्मकथा-लेखन आत्मालोचन का ही दूसरा नाम है। जो व्यक्ति जितनी निडरता से अपना सामना कर सकता है और जितनी गहराई और बेदर्दी के साथ चीर-फाड़ कर सकता है, उसकी आत्मकथा उतनी ही प्रामाणिक होती है।

डा० नगेन्द्र की यह आत्मकथा शुरू होने से पहले ही पाठक को दो जबरदस्त झटके देती है। पहला झटका तो उसे लगता है उसके शीर्षक 'अधकथा' से जो यह ध्वनित करता है कि लेखक ने इस पुस्तक में जानबूझ कर अपनी आधी अधूरी कहानी ही लिखी है। वैसे कोई भी आत्मकथा लेखक की लाख चेष्टा के बावजूद संपूर्ण कथा हो ही नहीं सकती क्योंकि कोई भी अपने को संपूर्णतः नहीं जान सकता। अपने को संपूर्णतः जान-पहचाने, समझे परखे बिना संपूर्ण कथा कैसे लिखी जा सकती है? पर यह आत्मकथा जानबूझ कर अधकथा के रूप में लिखी गई है यह बात इसके 'मुखबंध' और समाहार में स्पष्ट हो जाती है "जहाँ तक अन्तरंग जीवन का प्रश्न है, वह नितान्त मेरा अपना है —आपको अपना सम्भागी बनाने की उदारता मुझमें नहीं है।" इससे पाठक को दूसरा झटका लगता है कि अध कथाकार उसे अपनी संपूर्ण कथा का पात्र ही नहीं मानता, बल्कि उसे अधकथा का ही पात्र मानता है और वही उसे दे रहा है। पाठक की सहज प्रतिक्रिया तो यह होती है कि यदि अधकथा ही देनी थी तो दी ही क्यों? हमने तो याचना की नहीं थी — न आधी की, न पूरी की। जानबूझ कर अधकथा ही रहने दी गई यह आत्म-कथा एक गंभीर प्रश्न उठाती है कि आत्मकथा औरों के लिए लिखी जाती है या अपने लिए, अपने को जानने के लिए? अपने को निर्मम विवेचन विश्लेषण द्वारा बेरहमी से अपनी चीर फाड़ करके, व्यक्ति अपने को व्यग्र किए रखने वाली मूल प्रवृत्तियों का सही रूप जानना चाहता है। मूलतः अपने लिए लिखी गई आत्म कथा अपनी निश्छलता के कारण पाठक को भी आत्मालोचन की प्रेरणा देती है और उसके सहारे वह अपनी गहराइयाँ नापने लगता है। आधुनिक मनोविज्ञान भी आत्मकथा-लेखन का आत्मविश्लेषण द्वारा अपने को अपनी मनोवैज्ञानिक समस्या के सही रूप को पहचानने का प्रभावी माध्यम मानता है। पर यह तभी संभव है जब आत्मकथाकार में अपने को जानने की सच्ची लगन हो, बेलाग तड़प हो। इस लगन का, तड़प का, पहला सरोकार अपने से होता है अपने अन्तरंग से होता है। उसे अपने प्रति पूरी तरह खुलने का अपने सामने पूरी तरह नंगा होने

का और बेधड़क अपना सामना करने का साहस बटोरना होता है। पाठक की बात तो बहुत बाद मे आती है और वह भी तब जब आत्मकथासार का आत्मान्वेषण कही पहुँच चुकता है। जो निभय होकर स्वय अपना सामना कर चुका हो वह किसी और का सामना करने से क्यो कतराएगा ?

आत्मान्वेषण आत्मालोचन बडा ही कठिन काय है—खाडे की धार पर चलने के समान। हमारा अन्तरग अपने इद गिद इतनी मजबूत किलेबन्दी किए रहता है कि व्यक्ति मे जब तक आत्मान्वेषण की सच्ची तडप न हो, वह उसे अपने भीतर झांकने तक नही देता। छोटी मोटी कमजोर कोशिश को भरमाने के लिए तो वह ऐसे बहाने गढ देता है कि व्यक्ति आत्मालोचन की मर्मान्तक पीडा से बचने के लिए अपने अन्तरग के भुलावे मे आकर उन लचर बहानो को सही मानता हुआ उनका सहारा लेने लगता है। लगता है, डा० नगेन्द्र के अन्तमन ने भी उनके साथ यही खेल खेला है। उन्हे आत्मालोचन की पीडा से बचाने के लिए उसने एक नही, दो-दो 'माकूल' बहाने गढ दिए हैं। इस आत्मकथा के 'मुखबध' मे वे लिखते है "यह मेरे जीवन का अद्धसत्य मात्र है—पूण सत्य नही, क्योकि पूण सत्य को अनावत करने का नैतिक या अनैतिक साहस मुझमे नही है। पूण सत्य का उदघाटन करने के लिए अनासक्ति पहली शत है जो जीवन्मुक्त अवस्था मे ही सम्भव है।

"जीवन्मुक्ति की अवस्था उस समय प्राप्त होती है जब मनुष्य की चेतना सामान्य रागद्वेष तथा व्यक्ति ससर्गों से ऊपर उठकर सावभौम धरातल पर अवस्थित हो जाती है – या फिर सामाजिक जीवन-स्तर से स्खलित होकर जविक धरातल पर उतर आती है। सौभाग्य या दुर्भाग्य से मैं इन दोनो भूमिकाओ से वचित हूँ।" और फिर 'समाहार' मे सूचनाथ बताते हैं "कुछ अनुभूतियाँ ही ऐसी हैं जिन्हें मैं अपने जीवन की अमूल्य सम्पत्ति मानता हूँ, उन्ह मैंने अन्तमन की रत्न मजूषा मे बन्द कर इस कालपात्र के केन्द्र म रख दिया है। ये अभिलेख दो प्रकार के हैं एक प्रकार के अभिलेखो का सम्बन्ध मेरी साहित्य साधना के सुख सन्तोष से है और शेष का सम्बन्ध नारी के स्नेह ससार से है।"

इस प्रकार, नगेन्द्रजी का अन्तरग उन्हें भुलावे मे डालकर उनसे एक विचित्र प्रतिज्ञा भी करा देता है – निष्ठापूवक अधसत्य कहने की 'इस अधसत्य की अभिव्यक्ति मे मैं यथासम्भव असत्य भाषण नही करूँगा।' इस प्रतिज्ञा म 'यथा-सम्भव' शब्द मार्के का है। कितना बडा छल किया है डा० नगेन्द्र के अन्तरग ने उनके साथ – अधसत्य मे सत्य भाषण की प्रतिज्ञा और वह भी 'यथासम्भव' के कवच के साथ। आश्चय तो इस बात का है कि अपने अन्तरग के भुलावे म आकर वे अपने पाठको को, जिनमे अधिकाश उनके प्रशसक हैं, अवमानित कर बठते हैं—साफगोई के बहाने "जहाँ तक अन्तरग का प्रश्न है, वह नितात मेरा अपना है

—आपको उसका समभागी बनाने की उदारता मुझ म नहीं है।" शायद इन्हीं जोखिमों को भाँप कर भारतीय मनीषी आत्मकथा-लेखन तो क्या, आत्मकथन तक से बचते थे। डा० नगेन्द्र ने जानबूझकर यह जोखिम उठाया है तो उसके पीछे उनकी कोई मजबूरी रही होगी।

हो सकता है कि यह 'अधकथा' कालान्तर मे डा० नगेन्द्र की 'सम्पूर्ण' आत्मकथा की भूमिका बन जाए और वे शीघ्र ही हमारे लिए नहो तो अपने लिए ही सही, हम अपने अन्तरग का समभागी बनाने की बजाय आत्मसाक्षात्कार के लिए ही सही, 'आत्मानं विद्धि' की तड़प से ही सही, अपने अन्तर्मन की रत्न मंजूषा को कालपात्र से निकाल कर अपनी प्रियतम अनुभूतियों की निर्मम खोजबीन करते करते ही जीवन्मुक्त हो जाएँ। नगेन्द्र जी ने आज तक अपना कोई कार्य, कोई योजना, कोई प्रोजेक्ट आधा-अधूरा नही छोड़ा है, बल्कि अपने सहयोगियो से भी हर काम पूरा करा लिया है। उनके विरोधी भी उनकी इस खूबी को स्वीकार करते हैं। अब यदि वे स्वय ही अपनी आत्मकथा को आधा अधूरा छोड़ दें, और वह भी डंके की चोट पर तथा इसके लिए ऐसे तर्क जुटाने लगें जिन्हे मस्तिष्क भले ही मान ले पर मन नही मानता, तो उनकी यह ज्यादती किसे गवारा होगी?

प्रेम की आधुनिक परिणति : अनासक्ति-भोग

कबीर ने जब कहा था कि 'प्रेम गली अति साँकरी ता मे दो न समाय' तो उनका अभिप्राय आध्यात्मिक प्रेम से था। पर हमारा समाज सासारिक प्रेम के सदभ मे भी यही मानता है कि प्रेम गली इतनी सकीर्ण है कि प्रेम का आलबन एक ही हो सकता है, एकाधिक नहीं, यद्यपि रसिक हृदया को यह स्वीकार्य नहीं कि इतनी सारी वैज्ञानिक प्रगति के बावजूद प्रेम गली सँकरी ही बनी रहे। प्रेम गली के विकास विस्तार के प्रति समाज की उपेक्षा तो समझ मे आ सकती है, क्योकि रूढियो को पालना उसका स्वभाव है। पर आश्चय की बात है कि समस्त रूढियो को जड से उखाड फेंकने का दावा करने वाला साहित्यकार भी कबीर के सुर मे सुर मिलाकर अपनी रचनाओ मे नायक-नायिका की प्रेम गली की उसी सकीर्णता को गौरवान्वित करता रहा है जो एक के भीतर घुसते ही बाकी सबके लिए बन्द हो जाती है। यही नहीं, साहित्यकार तो उससे भी एक कदम आगे बढकर सूर की गोपियों की मजबूरी को ओढ लेता है जो उन्होने उद्धव के आगे यह कह कर व्यक्त की थी कि कृष्ण उनके मन मे आडे तिरछे होकर ऐसे फँस गए है कि निकालने की लाख चेष्टा करने पर भी नही निकलत। साहित्य की सभी विधाओ मे अब तक प्रेम के विषय मे कबीर और सूर का आदश ही प्रतिपादित हुआ है जो प्रेम की अनन्यता मे विश्वास रखता है, यानी प्रेमी अथवा प्रेमिका के मन मन्दिर म जो एक बार बस जाता है वह कभी नही निकलता, उसकी जगह कोई और ले भी नही सकता।

पुरानी पीढी प्रेम के इसी रूढ आदश को पालती रही है। उसे तो अतीतोन्मुखी कह कर छोडा भी जा सकता है, पर हर पुरानी चीज के प्रति विद्रोह का झडा बुलद करने वाली नयी पीढी भी आखें मूद कर उसी लीक पर चलती रहे और वह भी कथा साहित्य मे जिसे अन्य विधाओ की अपेक्षा आधुनिक माना जाता है, तो उसे क्या कहेगे ? शिवानी की एक कहानी है—'मन का प्रहरी', जिसका कथानक ही नही, शीषक भी सूर कबीर के आदश की ही दुहाई

देता है। विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी विभाग की अधेड़ अध्यक्षा अनु अनेक वर्षों के अन्तराल के बाद अपनी नौकरी और नगर छोड़ कर अन्तत मधुकर नाम के उसी युवक को अचानक पाकर उसके साथ भाग जाती है जो जवानी मे कभी उसके मन मंदिर मे बस गया था—भले ही उसकी प्रतीक्षा करते करते थक कर उसने अपना अकेलापन दूर करने के लिए एक युवा शिष्य से शादी कर ली थी।

शिवानी ही क्यो उषा प्रियवदा की कहानी भी अन्तत 'प्रेम गली अति साँकरी' के आदश को ही पालती है। उनकी कहानी 'मछलियां' से लगा था कि शायद वह इस रूढ़ि पर चोट करे, पर उसमे भी ऐसा कुछ नही हुआ। उसकी व्यक्त थीम तो यही है कि जिस प्रकार बडी मछली छोटी मछली को निगल जाती है उसी प्रकार समथ और सशक्त नारी कमज़ोर नारी के प्रमी को हथिया लेती है। पर अन्तर्धारा उसकी भी यही है कि एक बार जो प्रेमी नारी के मन मे बस जाता है उसकी जगह और कोई नहीं ले पाता। अन्यथा कोई कारण नहीं कि मुनीश के हाथो बार-बार ज़लील होकर भी विजी उसी के लिए बेचैन रहे जो अप्राप्य है, और मुनीश के मित्र नटराजन को, जो सहज प्राप्य है, ग्रहण न कर पाए। यह बात दूसरी है कि नटराजन के सीधेपन का लाभ उठा कर वह अपनी प्रतिद्वंद्वी मुकी से बदला ले लेती है नटराजन और मुकी की सगाई तुड़वाकर। हाँ, इस कहानी की मुकी अवश्य ऐसी नारी है जो अपनी प्रेम गली को बन्द रख-कर उसके बाहर ही बाहर पुरुषो से स्वाथ सेक्स और सुविधा के सहारे सम्बन्ध जोडती और तोडती रहती है किसी म भी आसक्त हुए बिना। उषा प्रियवदा की ही एक और कहानी है—'मोह भग'। वह भी नारी—मछलियो की टकराहट की कहानी है और 'मछलियां' के ही समानान्तर चलती है।

निमल वर्मा की कहानी 'परिन्दे' पढ़ी थी। उसकी नायिका लतिका अपने प्रेमी मेजर गिरीश के निधन के बाद भी निरन्तर उसी की स्मृति मे घुलती रहती है और यह जानते हुए भी कि वह लौटने वाला नही, अपने लिए बेचन ह्यूबर्ट का प्रणय स्वीकार नही कर पाती। यशपाल की कहानी है 'तक का तूफान' जिसमे दो टूटे दिल, जिनकी टूटन के आलबन अलग अलग हैं संगीत के बहाने एक-दूसरे के निकट आ जाते हैं और भीतर ही भीतर महसूस करने लगते हैं कि वे एक दूसरे की रिक्तता को भर सकते हैं। अतत नायक तो यह निश्चय कर कर लेता है और अपनी मेज के शीशे मे जडा एक नारी चित्र निकाल फेंकता है, पर नायिका चरम बिन्दु पर पहुंच कर सहसा अपने प्रेम के मूल आलबन म अटक जाती है।

इस प्रकार, 'क्रान्तिकारी' यशपाल ही नही, निमल वर्मा और उषा प्रियवदा जसे आधुनिकों को भी सूर-कबीर की लीक पर चलता देख, पाठक यह सोचने को मजबूर हो जाता है कि प्रेम-गली अति साँकरी कोरा आदश है या प्रेमी-

जीवन का यथार्थ? प्रेम गली को हर किसी के लिए खुला छोड देने मे जो जोखिम निहित है उसको ध्यान मे रखकर ही तो अर्चना अग्रवाल ने अपनी कहानी 'बचते-बचते' मे निरापद दूरी बनाए रखने का रास्ता निकाला है। पर क्या इस प्रकार बच बच कर चलने को कायरता नही कहा जाएगा? प्राचीना की कायरता तो समझ में आती है, पर आधुनिका भी इस मार्ग पर डर डर कर पग धरे तो उसके साहसिकता के दावे पर बट्टा नही लगेगा क्या?

नहीं, साहब, मन्नू भंडारी के होते हुए आधुनिका के साहस पर बट्टा कैसे लग सकता है? अपनी कहानी 'यही सच है' मे मन्नू भडारी ने आधुनिका को साहसिकता को खुल कर खेलने का अवसर दिया है। यह कहानी कबीर और सूर के परमादर्श की जड़ें खोदने का प्रयास करती है। कहानी की नायिका दीपा अपने दूसरे प्रेमी सजय को कानपुर मे छोड स्वय कलकत्ता इटरव्यू देने जाती है और वहाँ अचानक उसकी भेंट अपने पहले प्रेमी निशीथ से हो जाती है। निशीथ को पुन पाकर एक बार तो वह 'प्रेम-गली अति साकरी' की सचाई को स्वीकार कर लेती है, "आज एक बात अच्छी तरह जान गई हूँ कि प्रथम प्रेम ही सच्चा प्रेम होता है, बाद मे किया हुआ प्रेम तो अपने को भूलने का, भरमाने का प्रयास मात्र होता है" और अपने दूसरे प्रेमी सजय से मन ही मन क्षमा माँगती हुई कहती है —"निशीथ के चले जाने पर मेरे जीवन मे एक विराट शून्यता आ गई थी, एक खोखलापन आ गया था। तुमने उसकी पूर्ति की, तुम पूरक थे, मैं गलती से तुम्हे प्रियतम समझ बैठी।"

यही दीपा कलकत्ता आने से पहले कानपुर मे अपने दूसरे प्रेमी सजय के सान्निध्य मे एकदम उलटा सोचा करती थी कि 'अठारह वर्ष की आयु म किया हुआ प्यार भी कोई प्यार होता है भला! निरा बचपन होता है, महज पागलपन" और यह विश्वास किए थी कि सजय का प्यार ही सच है निशीथ का प्यार तो मात्र छल था, भ्रम था। इसके प्रमाण मे उसने सजय से कहा भी था कि "यदि तुमसे प्यार न करती होती तो तुम्हारे चुम्बनो और आलिंगनो म या अपने को बिखेर देती? जानते हो, विवाह से पहले कोई भी लडकी किसी को इन सब का अधिकार नही देती, पर मैंने दिया। केवल इसीलिए न कि मैं तुम्हे प्यार करती हूँ। बहुत बहुत प्यार करती हूँ।" पर कलकत्ता म प्रथम प्रेमी निशीथ को पा लेने के बाद सजय उसके लिए पराया हो गया।

जब तक दीपा कानपुर नही लौटती, वह अपने प्रथम प्रेमी के प्रति ही आसक्त रहती है और मन्नू भडारी की यह कहानी सूर-कबीर की लीक पर चलती रहती है। पर नायिका के कानपुर पहुँचते ही कहानी एक क्रांतिकारी मोड लेती है। लौटने पर दीपा को पता चला कि सजय पाँच छ दिन के लिए कानपुर से बाहर गया हुआ है तो उसने राहत की साँस ली। इस बीच सजय का सामना करने को

फार्मूला निकालती है, पर शिवानी बुद्धि के बल पर पति और प्रेमी दोनों को ही बिना किसी अपराध भावना के भोगने का दम ही नहीं भरती, उसे अपना अधिकार भी मानती है तथा उन दोनों की आनाकानी बहुत देर टिकने नहीं देती। आठ साल के सुखी विवाहित जीवन के बाद एक दिन अचानक मिले अपने विवाह पूर्व के प्रेमी अतुल को अविवाहित पाकर शिवानी अपने को उसके बिखराव का मूल कारण मानती हुई इतना पसीज जाती है कि उसे अपना शरीर तक अर्पित कर देती है। पर अतुल नहीं चाहता है कि शिवानी आवेश में आकर अपने दाम्पत्य को इतने बड़े जोखिम में डाले। वह उसे सब समझाता है, पर शिवानी उसे साफ बता देती है कि उसके निकट पति शिशिर और प्रेमी अतुल दोनों एक समान हैं। अतुल का सकोच जब फिर भी बना रहता है तो शिवानी 'ब्रह्मास्त्र' छोडती है—"मेरे प्यार की लाश ने तुम्हें जीती-जागती लाश बना दिया है। मेरा प्यार ही तुम्हें नया जीवन भी देगा। मेरे इस अधिकार को मुझसे कोई नहीं छीन सकता है।" बस फिर क्या था, अतुल का सकोच टूट गया और उसने शिवानी को ग्रहण कर लिया।

यह तो आधुनिका शिवानी का एक रूप है। उसका दूसरा रूप देखने को तब मिलता है जब उसके नाम अतुल का लिखा पत्र एक दिन पति शिशिर के हाथ लग जाता है जिसमें उस समर्पण का सविस्तर उल्लेख है और परिणामस्वरूप दोनों दाम्पत्य विच्छेद के बिंदु पर पहुँच जाते हैं। पति को शिवानी से दोहरी शिकायत है कि एक तो वह पर-पुरुष को अपना शरीर तक दे आई और दूसरे, इतनी बड़ी बात को पचाकर बड़े स्वाभाविक ढंग से चलती रही, मानो कुछ हुआ ही न हो। पति के इस आरोप का उत्तर शिवानी प्रतिप्रश्न से ही शुरू करती है—"शरीर देने के बाद औरत के लिए अस्वाभाविक हो जाना क्या अनिवार्य है? और छिपाने के पीछे भी तुम्हें धोखा देने का, छलने का उद्देश्य कतई नहीं था। सिर्फ तुमसे इसलिए छिपाया था कि तुमसे सहा नहीं जाता, तुम बहुत कष्ट पाते।" पति को उसकी सफाई में कोरी वाक्पटुता दिखाई दी थी और उसने कहा था कि बड़े कौशल से 'जस्टीफाई' करने से ही कोई बात सही नहीं हो जाती।

अन्तत पति ने तलाक का प्रस्ताव रख दिया। उसने सोचा था कि तलाक की बात सुनकर शिवानी पछाड खाकर कटे पेड की तरह गिर पडेगी, पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। शिवानी ने उलटे पति को ही आडे हाथों लिया "यदि हमारे सम्बन्धों का आधार इतना छिछला है, इतना कमजोर है कि एक हल्के से झटके को भी नहीं सभाल सकता तो सचमुच ही उसे टूट जाना चाहिए।" अपनी पत्नी के इस उत्तर से पति बौखला उठा और उसके मन का सारा जहर, सारी कटुता उसकी वाणी में उमड पडी—"सम्बन्धों की बात तुम न करो। तुम जैसी औरत क्या समझेगी सम्बन्धों की पवित्रता को?" शिवानी हार मानने वाली

नही थी। उसने और भी तीखा प्रतिव्यग्य किया—"शायद तुम ठीक ही कहते हो, क्योकि अब तो मुझे सचमुच ही इस सम्बन्ध मे कोई पवित्रता नजर नहीं आती। मैं तो सोचती थी कि यह सम्बन्ध इतना पवित्र है कि सारे ससार की अपवित्रता भी इसमे आकर पवित्र हो जाती है।" यहाँ शिवानी के कुतर्क की पनी धार दर्शत ही बनती है।

पति के धय के सारे बाँध टूट गए और वह उबल पडा—"अभी तक समझे था कि तुम मेरी हो, केवल मेरी और मेरे सिवाय किसी की हो नही सकती हो। लेकिन अब लगता है कि एक बडा खूबसूरत सा भ्रम ही तो मैंने पाल रखा था।" पति की इस परम भावुकता का लाभ उठाते हुए शिवानी ने झट पैंतरा बदला—'प्रेम क्यो ? ठीक ही तो समझा था। साथ रहे या न रह, यह विश्वास तो मैं आज भी दिला सकती हूँ कि शीनू तुम्हारी है और केवल तुम्हारी। पति के रूप म तो मैं किसी और की कल्पना भी नहा कर सकती, अतुल की भी नही। तुम्ह लेकर मन का कोना कोना कुछ इस तरह बस हुआ है कि उसमे और कोइ कहाँ मे आएगा भला ?" शिवानी का यह तीर ठीक निशान पर बठा। भावुक पति पसीज गया और एकाएक उसका हाथ पकड कर बोला—"अच्छा। शीनू, उस समय क्या तुम्ह एक बार भी मेरा ख्याल नही आया ?" शिवानी को अब अपनी विजय का निश्चय हो गया और उसन 'रहस्योदघाटन' किया—"ख्याल ? तुम्हारे सिवाय और कोई बात ही मन मे नही थी। शरीर पर चाहे वह छाया हुआ हो, मन पर तुम, केवल तुम छाये हुए थे।' पति को परास्त होता देख शिवानी ने एक जाल और फेंका—"मेरे जीवन मे तुम्हारा जो स्थान है उसे कोई नही ले सकता। लेना तो दूर, उस तक कोई पहुच भी नही सकता। किसी के कितना ही निकट चली जाऊँ चाहे शारीरिक सम्बन्ध भी स्थापित कर लू, पर मन की जिस ऊँचाई पर तुम्ह बिठा रखा है वहाँ कोई नही आ सकता।

यह है मन्नू भडारी की ऊचाई—जिसे छूते ही प्रेम की सारी सनातन सकल्पनाएँ पछाड खाकर गिर पडेंगी—जिसमे नायिका प्रेमी को केवल शरीर देती है मन नही और पति को, जिसे समाज ने पत्नी के शरीर का अनन्य अधिकारी माना है, कोरा अश्वासन मिलता है कि उसकी पत्नी शरीर चाहे किसी को भी देती फिरे, 'पत्नीत्व' उसके शिवाय किसी और का स्वीकार नही करेगी। प्रश्न उठता है कि शिवानी यदि मनसा पति की बनी रह सकती थी तो उसकी ऐसी कौन-सी मजबूरी थी जिसके कारण उसे पर पुरुष को शरीर देना पडा। यह बात जब शिवानी के पति ने उठाई थी तब उसके समाधान मे शिवानी ने कहा था कि यदि वह जरा सा देकर किसी के जीवन म पूणता ला सकती है तो उस देने मे क्या हज है, मानो उसका देहदान विशुद्ध दान हो, ग्रहण की प्रत्याशा से एकदम मुक्त। शिवानी की इस 'परोपकारिता' से प्रभावित होकर जब उसके

पति ने पूछा कि क्या उसने देने की भावना से ही यह सब किया था – क्या भोगने अथवा पाने की भावना उसमे तनिक भी नही थी, तब शिवानी ने बडा टालू उत्तर दिया था—'जानते हो देने पावने का हिसाब रखने की वृत्ति मेरी नही। कितना दिया और कितना पाया, यह मैं स्वय नही जानती तो तुम्हें क्या बताऊ ?' मानो वह ऐसी सिद्धावस्था को प्राप्त हो गई हो जहाँ शारीरिक मिलन भी अनासक्ति की सज्ञा पा जाता है जबकि उसका सारा सघर्ष अनासक्ति भोग के लिए ही दीखता है।

'ऊँचाई' की नायिका शिवानी के मायाजाल मे उसका पति भले ही फँस जाए, पाठक पर उसका जादू अधिक देर नही चल पाता। उसे यह समझते देर नही लगती कि आधुनिका शिवानी न तो प्रेमी के प्रति सच्ची रही है और न पति के प्रति ही। यदि प्रेमी को पता चल जाता कि उसकी प्रेमिका केवल शरीर से उसे अर्पित है, मन से नही, तो क्या इस अधूरे समर्पण को वह ग्रहण करता ? और यह भी कौन जाने कि देहदान के समय मन मे पति के होने की जो बात शिवानी ने पति को कही थी वह सच ही थी, पति का मन रखने के लिए नही कही गई थी ? उसके कथन मे सचाई मान भी लें, पर यह कौन कह सकता है कि जब प्रेमी शरीर पर छाया हुआ था उस समय शिवानी के मन म पति का आना उसकी (शिवानी की) अपनी अपराध-भावना का प्रतीक नही था ? यह भी तो हो सकता है कि मनसा न वह पति की रही और न ही प्रेमी की, बल्कि मन्नू भडारी की दूसरी कहानी 'यही सच है' की नायिका दीपा की तरह शिवानी भी शारीरिक मिलन को ही सच मानती हो और मन का मेल उसके लिए अर्थ खो चुका हो। समाज ने पति को नारी के शरीर का एकाधिकार दिया है और प्रेमी जगत ने प्रेमी को उसका अनन्य मनवसिया माना है। शिवानी को लगता है कि एक ने उसका शरीर बाँध रखा है तो दूसरे ने मन। वह पति और प्रेमी दोनो के एकाधिकार को चुनौती देती है और चारो तरफ से घेर रखने वाली इन लक्ष्मण रेखाओ को लाघने की अनुमति के लिए नही, बल्कि इन्हे मिटा ही डालने के लिए यह आधुनिका बडे से बडा जोखिम उठाने को तयार है। ये सीमा रेखाएँ मिटी नही कि अनासक्ति भोग के सब मार्ग जो अब तक उसके लिए बन्द थे, पलक मारते ही खुल जाएँगे। क्या नारी स्वातन्त्र्य की यही चरमोपलब्धि है ?

'महासमर' का पहला 'बधन'

रामकथा को आज की सर्वाधिक लोकप्रिय विधा उपन्यास के माध्यम से आधुनिक परिप्रेक्ष्य मे ढाल कर सफलतापूर्वक प्रस्तुत करने के बाद नरेन्द्र कोहली अब महाभारत पर उतर आए हैं और उनके 'महासमर' नामक उपन्यास का पहला खड 'बन्धन' हाल ही मे प्रकाशित हुआ है। इतिहास या पुराण को आधार बनाकर उपन्यास लिखने म सबसे बडी कठिनाई पेश आती है पात्रो के चरित्र चित्रण मे। यहाँ उपन्यासकार अपने पात्रो के लोकविख्यात इतिहास पुराण सम्मत रूप से हट कर उनके चरित्र का स्वतन्त्र विकास नही कर सकता। उनका लोकविख्यात रूप उपन्यासकार की कल्पना के पर काट देता है और उसे अपने पात्रा के साथ मनमानी नही करने देता। यह कठिनाई तब और भी बढ जाती है जब उपन्यासकार उन्हें किसी पूर्वनिश्चित धारणा या दृष्टिकोण से चित्रित कर किसी विशेष निष्कर्ष पर पहुँचाने की ठान चुका हो। ऐसी स्थिति मे उसके आगे दो ही रास्ते रह जाते हैं। एक तो यह कि वह स्वतन्त्र खोज द्वारा अपने दृष्टिकोण के अनुरूप सामग्री जुटा ले और उसकी प्रामाणिकता के आधार पर पात्रो के चरित्र का निर्माण करे। दूसरा रास्ता यह है कि वह पात्रो के चरित्र के उस गुह्य रूप मे चरित्र मे प्रवत्त हो जो अब तक इतिहास पुराण की पहुच से परे रहकर उनके व्यक्त रूप को प्रेरित करता रहा है। इसके लिए उसे अपने पात्रो के बहिर्जगत और उसमे व्यक्त उनकी क्रिया प्रतिक्रिया मे उलझा रहकर उनके अन्तर्जगत को अपना लक्ष्य बनाना होगा और भीतर की अँधेरी और कंकरीली-पथरीली गुफाओ मे उतर कर उनमे मचल रहे द्वन्द्वो-संघर्षों को आँकने की चेष्टा करनी होगी तथा उनके व्यक्त और अव्यक्त रूपा म विश्वसनीय तारतम्य जोडकर कार्य-कारण का ताना-बाना बुनना होगा। पुराणकार की तरह उपन्यासकार को यह छूट नही होती—उसके उपन्यास का कथानक भले ही पौराणिक हो—कि अपने पात्रो के चरित्र विकास मे आए आकस्मिक और विचित्र मोडो के सूत्र उनके पिछले या पिछले से भी पिछले जन्म मे ढूढ सके। उसे तो सभी पात्रा के कृताकृत मे कार्य कारण के सूत्र उनके इसी जन्म मे ढूढने-बुनने होंगे, और वह भी अतिमानवीय नही,

मानवीय धरातल पर ही। उसके उपन्यास की कोई भी क्रिया प्रतिक्रिया अनहोनी नहीं लगनी चाहिए। इसलिए महाभारत का, जिसमें अनहोनी घटनाओं की भरमार है, उपन्यास में ढालना अपने आप में बहुत बड़ी चुनौती है। नरेन्द्र कोहली ने जो इस चुनौती को स्वीकार किया है यह उनकी सामर्थ्य का द्योतक है।

'महासमर' का यह पहला खंड सत्यवती के मिलन से शुरू होता है जो महाभारत की मूल घटना है। सत्यवती के प्रति शान्तनु की अदम्य आसक्ति और पति का दुख हरने के लिए देवव्रत द्वारा अखंड ब्रह्मचर्य की भीष्म प्रतिज्ञा उसी की उपज हैं। फिर निर्वीयता और नियोग के चक्र में उलझती सुलझती इस खंड की महाभारत-कथा पांडवों के जन्म और पांडु के निधन के बाद उनके हस्तिनापुर लौट आने तथा टूटी हारी सत्यवती के कृष्ण द्वैपायन के संग उसके आश्रम के लिए प्रस्थान के बाद समाप्त हो जाती है। देवव्रत और सत्यवती इस खंड के दो प्रमुख पात्र हैं। शान्तनु, पांडु, धृतराष्ट्र, अम्बा, कुन्ती, गान्धारी आदि अन्य पात्र उनके चरित्र को धार देते हैं। देवव्रत भीष्म का चरित्र अनेक परस्पर विरोधी धाराओं का संगम अतः बेहद दुरूह है। वह राजकुमार है, शरीर और मन दोनों से बलिष्ठ है, शस्त्र और शास्त्र दोनों में निष्णात है, हर प्रकार से प्रजावत्सल है—उसमें चक्रवर्ती सम्राट के सभी गुण विद्यमान हैं, फिर भी राजकाज में उसका मन नहीं रमता, राजसी ठाट-बाट की अपेक्षा तापस का जीवन उसे लुभाता है। भरी जवानी में ऐसा वैराग्य संसार की हर वस्तु से वितृष्णा, यह सब क्या?

इस गुत्थी को सुलझाने के लिए 'महासमर' का लेखक भीष्म के बचपन में झांकता है तो आधुनिक बालमनोविज्ञान के अनुसार अवांछित-उपेक्षित बालक के सभी लक्षण उसमें मिलते हैं। उसके माता पिता दोनों ही जीवित थे, किन्तु उसकी देखभाल करने लिए अवकाश न पिता को था और न माता को ही। माता गंगा नारी-स्वातंत्र्य पर किसी प्रकार की आँच नहीं आने देना चाहती थी, इसलिए पिता से अलग पूर्णतः स्वतंत्र जीवन व्यतीत कर रही थी, और पिता अपने मन के घाव को भरने के लिए वन-पशुओं को घायल करने में समय काट रहा था। भीष्म को एक लंबी अवधि तक आश्रमों में रहना पड़ा—अपनी शिक्षा-दीक्षा के लिए और इसलिए भी कि हस्तिनापुर के राजप्रासाद में ऐसा कोई नहीं था जो उसकी प्रतीक्षा कर रहा हो। वह वशिष्ठ के आश्रम में रहा, परशुराम के आश्रम में रहा, बृहस्पति के पास रहा, शुक्राचार्य के निकट रहा। इस प्रकार, आर्य और देव-ऋषियों के आश्रमों में छत्तीस वर्ष बिताए देवव्रत ने। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में कहें तो देवव्रत टूटे बिखरे परिवार का अवांछित बालक था—'अनवांटेड चाइल्ड आफ ए ब्रोकन होम'।

हजारों वर्षों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही भीष्म की दृढ़ निश्चल प्रस्तर मूर्ति-जैसी छवि को भेद कर उसके भीतर मचल रही प्रेम-तरंगों को बेनकाब करने का सफल प्रयास भी इस उपन्यास में हुआ है। भीष्म का अखंड निर्द्वन्द्व ब्रह्मचर्य आज तक आदर्श माना जाता है। पर 'बंधन' का निर्बंध लेखक उसके भीतर झांकने से नहीं चूकता और इसका अवसर प्रदान करती है अम्बा जो काशिराज की उन तीन कन्याओं में सबसे बड़ी थी जिन्हें भीष्म स्वयंवर से हरण करके लाये थे। हरण के समय भीष्म ने कहीं यह प्रकट नहीं किया कि वे इन कन्याओं का हरण अपने भाई विचित्रवीर्य के साथ विवाह करने के लिए कर रहे हैं। उनके इस मौन के कारण ही अम्बा को भ्रम हुआ कि भीष्म अपने लिए उसका हरण कर रहा है और वह शाल्व के प्रति अपने आकर्षण को दबाकर भीष्म के प्रति ढुलक पड़ी। भीष्म की यह चूक सर्वथा निरीह हो, यह मानना सही न होगा, बल्कि यह चूक तो उनके मन का गवाक्ष खोल देती है। लेखक को भीष्म के भीतर ठाठें मार रहे रस के सागर तक पहुँचने का और अम्बा को उस आड़े हाथों लेने का अवसर प्रदान करती है। अम्बा के यह बताने पर कि अपनी इच्छा और सहमति से वह शाल्व को अपने पति के रूप में वर चुकी है और स्वयंवर में यदि उसका हरण न होता तो वह उसी का वरण करती, भीष्म ने सत्यवती और प्रमुख ब्राह्मणों से परामर्श करके उसे विचित्रवीर्य से विवाह करने की बाध्यता से मुक्त करा दिया और शाल्व के पास भिजवा दिया। पर मन ही मन वह अपने से लड़ता भी रहा।

विदा होती हुई अम्बा की वह छवि उसके हृदय में ऐसी अंकित हुई थी कि मिटना तो दूर वह तनिक धूमिल भी नहीं हुई। एकान्त का एक क्षण मिलते ही जैसे हृदय में अंकित अम्बा की छवि सजीव हो उठती, 'तुमने मेरे साथ अत्याचार किया है, भीष्म। शाल्व के प्रति मेरा आकर्षण अवश्य था, क्योंकि मेरे जीवन की वाटिका में पवन का कोई दूसरा झोंका आया ही नहीं था। किंतु जब तुम आए मुझे अपने हृदय को टटोलना पड़ा। शाल्व के प्रति मेरे मन में क्या था अनुराग? या तुमने मेरा हरण किया और मैं तुम्हारी वीरता पर रीझ रीझ गई। मैंने तुम्हारा रूप देखा, तुम्हारा संकल्प देखा, तुम्हारा साहस और धैर्य देखा, तुम्हारी शस्त्रकला देखी, तुम्हारा युद्धकौशल देखा और जैसे जैसे तुम्हारी तुलना शाल्व से करती, तुम पर रीझती गई। भीष्म अपने मन में बोलती अम्बा को बड़ी कठिनाई से चुप कराता। वह मानता था कि यह सब उसका भ्रम है। नहीं, शायद यह उसका भ्रम भी नहीं है। उसने आज तक अपनी जिन कामनाओं का बलात दमन किया था, उन सबने मिलकर ही जैसे अम्बा का रूप धारण कर लिया था। वह समझता था कि उसने अपनी कामनाओं को जीत लिया है, काम को पराजित कर दिया है, पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ था।

अपने बाबा की सीख पर सत्यवती ने अपने सुहाग शान्तनु को अखंड बनाए

रखने की बजाय अपने राजसी वैभव को ही अखड बनाये रखने की चेष्टा की और पूरे राजतन्त्र को स्वार्थसिद्धि मे झोक दिया। परिणाम वही हुआ जो होना था। जब उसे पता चला कि उसका दूसरा बेटा भी क्षयरोग का शिकार होकर हाथ से निकला जा रहा है, तब उसका विलाप देखते ही बनता है, 'क्या है यह सब ? कौन-सा पाप किया है सत्यवती ने, जिसका उसे दड मिल रहा है। पहले अपना प्रिय तापस छूटा, नन्हे कृष्ण द्वैपायन को त्यागा, फिर वृद्ध पति पाया, विधवा हुई, चित्रागद छोड गया और अब यह विचित्रवीर्य—क्या यह सब केवल इसलिए कि उसने भीष्म के अधिकार का अपहरण किया, पर क्या पाया उसने ? सब कुछ तो खोया ही खोया है। क्या यह सब उसका अपना कर्तृत्व है या किसी और का ? भगवान का या मनुष्य का ?'

पर सत्यवती हार मान लेने वाली स्त्री नही है। उसके जीवन की विडबना यह है कि वह अपनी हर सफलता का श्रेय तो अपने को देती है, पर अपनी हर विफलता मे, अपनी अपराध भावना के कारण, भीष्म का षडयन्त्र देखती है। अपने कानीन पुत्र कृष्ण द्वैपायन के समझाने पर भी भीष्म के प्रति उसके मन मे विश्वास नही जमता। जब कृष्ण द्वैपायन उसे सलाह देता है कि हस्तिनापुर को भीष्म के सरक्षण मे छोड, वह राजपाट के झझटो से मुक्ति पाकर उसके साथ आश्रम म चल दे तो वह विक्षिप्त-सी चिल्ला पडती है "भीष्म बहुत धूर्त है। वह जानता है कि हस्तिनापुर का राजसिंहासन हत्यारा है। इसलिए वह स्वय उस पर नही बैठता। जिसे वह अपना शत्रु समझता है, उसे उस पर बठा देता है, और वह कालकवलित हो जाता है।" उसके निकट भीष्म उसका असली शत्रु था, क्योकि उसने भीष्म का राज्य छीना था। कृष्ण द्वैपायन उसे समझाता है, "तुम यह समझती रही कि तुमने भीष्म का राज्य छीना। इसलिए तुम्हारे मन मे अपराध-बोध था। यही अपराध बोध निरन्तर इस आशका मे बदलता रहा कि भीष्म अपना छिना हुआ राज्य पुन प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। अत वह तुम्हारा शत्रु बन जाएगा। तुम अपनी शत्रुता भीष्म के मन मे प्रतिबिम्बित देखती रही। पर भीष्म यह नही मानता कि उसका राज्य छीना गया है। वह मानता है कि उसने अपने राज्य का स्वय त्याग किया है।—'तुम तो भीष्म के राज्य त्याग का निमित्त बनी, माँ। नही तो वह किसी और व्याज से यह त्याग कर देता। इसलिए उसके मन म तुम्हारे विरुद्ध कुछ नही है तुम आज तक अपने ही कलुष से जली माँ। भीष्म ने तुम्हे कभी नही तपाया।' पर सत्यवती उस मिट्टी की नही बनी कि कोई उसे उसकी धारणा से विचलित कर सके – उसे समझाने वाला भले ही स्वय कृष्ण द्वैपायन यानी वेदव्यास हो।

नारी पात्रो मे सर्वाधिक चतुर और गहन है गान्धारी। कुरुवश के पतन के बीज यदि सत्यवती ने बोए थे, तो उसे रसातल म पहुँचाने वाली थी गान्धारी।

पर तुर्रा यह कि चारों ओर उसकी वाह-वाह ही होती रही, उसके विरुद्ध कभी कोई एक आवाज भी नहीं उठी। उसने अपनी आँखों पर पट्टी अन्धे से बलात् विवाह के विरुद्ध 'प्रोटेस्ट' के रूप में बाँधी हो, या किसी और कारण से, पर इस कृत्य से उसकी खूब प्रशंसा हुई और ख्याति भी फैली। वास्तव में, कुरुवंश को रसातल तक पहुँचाने के लिए कृतसंकल्प था गांधार-नरेश और उसके लिए सक्रिय भूमिका निभाई उसकी पुत्री गांधारी और पुत्र शकुनि ने। अंधे धृतराष्ट्र के लिए गांधारी का दान गांधार-नरेश को मजबूरी में करना पड़ा था जिसकी कसक उसके लिए असह्य थी। इसलिए गांधारी के साथ अपने पुत्र शकुनि को भेजते हुए उसने जो कहा था वह उल्लेखनीय है, 'पुत्र तुझे शकुनि तब मानूँगा जब तुम गांधारी की इस पराजय को, कौरवों के यमफाँस में परिवर्तित कर दो। सम्भवतः हमारी पराजय का यह क्षण, गांधारी के अभ्युत्थान के लिए ही आया हो। तुम उसी का प्रयत्न करना, कौरवों के शासन तन्त्र में तुम्हारी गति जितनी ही बढ़ती जाएगी, मुझे उतनी ही प्रसन्नता होगी।'

हस्तिनापुर पहुँचकर पहला काम जो गांधारी ने किया वह था टूटे हारे धृतराष्ट्र में राज्यलिप्सा की चिनगारी लगाना। यह अभियान उसने प्रथम मिलन में ही छेड़ दिया। धृतराष्ट्र इतना डरा सहमा हुआ था कि गांधारी द्वारा राज्याधिकार की चर्चा छेड़ने पर वह कहता है धीरे बोलो, कोई सुन लेगा। तुम नहीं जानती इस सारे हस्तिनापुर में मैं एकदम अकेला हूँ। सत्यवती ज्येष्ठ तात भीष्म, पाण्डु विदुर यहाँ तक कि मेरी अपनी माता अम्बिका भी सब मेरे विरुद्ध पाण्डु के पक्ष में हैं। मन्त्रिगण कुरु प्रमुख मन्त्रि आदि सब उसके पक्ष में हैं। मैं एकदम अकेला हूँ। गांधारी ने टटोलकर धृतराष्ट्र का हाथ अपनी हथेलियों में लिया और स्नेह से उसे दबाया। धृतराष्ट्र को अपार सांत्वना मिली। गांधारी बोली अब आप अकेले नहीं। मैं हूँ आपके साथ। मैं और आप एक हैं। मेरे साथ शकुनि है पिता गांधारराज है गांधार का राज्य है। हम सब आपके हैं। बताइए आप अकेले हैं—बोलिए न?' धृतराष्ट्र के मुख से अनायास ही निकल गया, 'यह सब तो मैंने सोचा ही नहीं था। आ मेरी प्रियतमा, तुम मेरी रति ही नहीं, शक्ति भी हो। तुमने तो मुझे एक ही क्षण में कामदेव भी बना दिया और उसे भस्म करने वाला महादेव भी।' धृतराष्ट्र ने गांधारी को अपने अंक में समेट लिया। वह धैर्यपूर्वक पति के अंक में दुबकी रही और जब उसका आवेश कुछ कम हुआ तो अपने को सहज कर बोली 'आर्यपुत्र, यह राज्य आपका है, और आपका ही रहेगा। धृतराष्ट्र आह भरकर बोला 'इस राय को हस्तिनापुर में मान्यता प्राप्त नहीं है। ज्येष्ठ तात भीष्म और पितामही सत्यवती ने निर्णय किया है कि जन्मांध राजकुमार सिंहासन का अधिकारी नहीं हो सकता।' गांधारी बोली 'हाँ, ठीक निर्णय दिया है उन्होंने। यह ठीक है कि ज्येष्ठ जन्मांध

राजकुमार सिंहासन का अधिकारी नहीं है, किन्तु सिंहासन का अधिकार उसी का है।' धृतराष्ट्र की समझ में कुछ नहीं आया और वह बोला, 'पहेलियाँ मत बुझाओ।' गान्धारी बोली, 'इसका अर्थ यह है कि उसके स्थान पर जो कोई भी सिंहासन पर बैठ रहा है, वह ज्येष्ठ राजकुमार के निमित्त शासन-कार्य चला रहा है, जैसे आज तक आपके ज्येष्ठ तात भीष्म ने चलाया है। राज्य ज्येष्ठ राजकुमार का ही रहेगा और जिस दिन ज्येष्ठ राजकुमार का पुत्र जन्म लेगा, उसे हस्तिनापुर का युवराज घोषित किया जाएगा।' धृतराष्ट्र के मुँह से अनायास निकला, 'गान्धारी!' लोहा गर्म जान गान्धारी ने अन्तिम चोट की, 'हाँ, आर्यपुत्र, आप ज्येष्ठ तात और पितामही से चर्चा करें—और यह वचन मैं आपको देती हूँ कि पाण्डु का पुत्र जन्म ले, उससे पहले मैं आपके पुत्र का प्रसव करूँगी।' धृतराष्ट्र को लगा, आज जैसे उसका नया जन्म हुआ था।

यहाँ हम कुछ प्रमुख पात्रों को ही ले पाए हैं। 'महासमर' के इस खंड में उपन्यासकार ने जिस भी पात्र को छुआ है, उसकी अन्तरात्मा को आन्दोलित करने वाले उन सभी उद्वेगों-द्वन्द्वों को पकड़ने के प्रयास में वह उसके भीतर तक उतरता गया है। उस पुरुष प्रधान समाज में सबसे अधिक शोचनीय स्थिति थी नारी की, जिसमें आज तक कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। राजा की सब पत्नियाँ उसकी सम्पत्ति मानी जाती थीं, उसका क्षेत्र मानी जाती थीं। अपने क्षेत्र में उत्पन्न हर सन्तान उसकी अपनी मानी जाती थी चाहे वह औरस हो या नियोग द्वारा प्राप्त, उसके जीवनकाल में हुई हो या मरणोपरान्त। नारी-जीवन की विडम्बना को भीष्म के प्रति अम्बा की ललकार में सशक्त अभिव्यक्ति मिली है, 'सबने अपने अपने धर्म का निर्वाह किया है तो यह अधर्म क्या हो रहा है? पिता के घर से स्वयंवर में मैं हरी गई। अतः मैं लौटकर अपने पितकुल में नहीं जा सकती। जो मुझे हरकर लाया वह मुझे ग्रहण नहीं कर रहा, क्योंकि वह ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा में बँधा हुआ है और जो मुझसे प्रेम करता था, वह मुझे इसलिए अंगीकार नहीं कर रहा, क्योंकि वह मेरा हरण नहीं कर सका। जब किसी ने अधर्म नहीं किया, किसी ने पाप नहीं किया, किसी ने अन्याय नहीं किया—तो यह सारी यातना मेरे लिए ही क्यों? तुम क्या नहीं मेरे समान वन-वन और नगर-नगर में भटक रहे?' अम्बा की यह ललकार भीष्म को ही नहीं, उस युग के जीवन-मूल्यों को भी है। वह उन सबकी कलई खोल देती है।

उस युग में धर्म अपनी व्यापकता खोकर वैयक्तिक धरातल पर उतर आया था। उस युग का हर व्यक्ति, आत्मकेन्द्रित था, अहंनिष्ठ था, अपने मान-सम्मान को अपना प्रतिमा प्रतिज्ञा को सर्वोपरि मानता था और उसकी रक्षा के लिए बड़े से बड़ा तप और त्याग करने को उद्यत रहता था, इस बात की चिन्ता किए बिना कि उसका धर्म सार्वभौम मानव धर्म से टकरा रहा है तथा हित की

अपेक्षा अहित कर रहा है । बस एक बार अपने को स्वनिर्मित सकीर्ण व्यक्तिपरक मर्यादाओ की शृखलाओ मे कस कर बाध लेने पर वह लाख चाहने और छट पटाने के बावजूद उनसे मुक्ति पाने मे अपने को असमर्थ पाता था । भीष्म इस स्वनिर्मित भ्रमजाल का ज्वलन्त उदाहरण है । वह मुक्ति के लिए जितना अधिक छटपटाता है, उसके बन्धन उतने ही अधिक कसते जाते है । इसी सत्य का तो उदघाटित करता है 'बन्धन' नामक यह पहला खड ।

अपेक्षा अहित कर रहा है । बस एक बार अपने म
मर्यादाओ की शृखलाओ म कस कर बाध लेने
पटाने के बावजूद उनसे मुक्ति पाने मे अपने को
स्वनिर्मित भ्रमजाल का ज्वल त उदाहरण है । व
छटपटाता है, उसके ब धन उतने ही अधिक क
उदघाटित करता है 'ब धन नामक यह पहला ट



Io रणवीर रांग्रा

1924, गांव हरियाणा, जिला (पंजाब)

-एच० डी० आगरा विश्वविद्यालय

याम में चरित्रचित्रण का विकास घ)

ाधना और संघर्ष

नोभूमि

ाक्षात्कार (हिन्दी के साहित्यकार ा)

हिन्दी उपन्यास की भूमिका

ाम अछूत गन्ध

हित्यकार से साक्षात्कार (भारत ाम साहित्यकारों से भेंट वार्ताएँ)

र केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय,